नवीन जगत् से प्राप्त लालसाएँ

लेखिका

श्रीशकुन्तला राव शास्त्री

—:००:—

अनुवादक

पं० गयाप्रसाद दीक्षित एम्० ए०

प्रकाशक

(राजा) रामकुमार-बुकडिपो

हजरतगंज, लखनऊ,

१९५६ ई०

प्रथम संस्करण फरवरी, १९५६

मूल्य २।)

मुन्नूलाल श्रीवास्तव के प्रबंध से (राजा) रामकुमार-प्रेस, लखनऊ में मुद्रित

प्रधान सम्पादक का वक्तव्य

भारतीय विद्या भवन—बंबई की भारतीय संस्कृति की एक संस्था—को एक 'बुक युनिवर्सिटी' अर्थात् एक पुस्तक-माला की अपेक्षा थी जिसके अध्ययन से उच्च शिक्षा के प्रयोजन की पूर्ति हो जाय। इसके अन्तर्गत ऐसे साहित्य को विशेष महत्त्व दिया जायगा जो भारत की गम्भीरतर भावनाओं को व्यक्त करे।

इस दिशा में पहले कदम में ही यह तय किया गया है कि "जनरल-एडीटरों" द्वारा चुनी गई १०० पुस्तकें अँगरेजी में प्रकाशित की जायँ, और इनमें से ५० पुस्तकों का प्रकाशन कार्य तुरन्त शुरू कर दिया जाय। ये पुस्तकें लगभग २०० से लेकर २५० पृष्ठों तक की होंगी। अंगरेजी संस्करण का मूल्य १।॥) [और हिन्दी संस्करण का मूल्य प्रति पुस्तक २।)] होगा।

इरादा यह भी है कि इन पुस्तकों को तथा दूसरी किताबों को आठ भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में—जैसे कि (१) हिन्दी, (२) बंगाली, (३) गुजराती, (४) मराठी, (५) तामिल, (६) तेलगू, (७) कन्नड़ और (८) मलयालम में—प्रकाशित किया जाय। साहित्य के इस सामान्यतया व्यापक स्रोत से, पाठक विश्व की और भारतीय साहित्य की विचार-धाराओं को हृदयंगम करने में समर्थ होंगे। इस वाङ मय-

वारिधि में भाषा-रूपिणी महोर्मियों की विभिन्नता होने पर भी प्रेरणा और भावना-रूपी अगाध जल समान रूप से भरा है।

इस योजना के अन्तर्गत ९०० ग्रन्थों का मुद्रण-प्रकाशन अपेक्षित है जिसके लिए एक 'अखिल भारतीय संगठन' तथा विशिष्ट साधनों की आवश्यकता है। इस योजना को सुसंगठित और कार्यान्वित करने में यह 'भवन' विशेष प्रयत्नशील है।

वर्तमान युग की विशेषताओं को सर्वथा दृष्टि में रखते हुए यह 'भवन' अपने ध्येय के अनुरूप भारतीय संस्कृति के समन्वय का समर्थक है और उसकी मुख्य मौलिक विशेषताओं के पुनरुज्जीवन का भी। जैसे कि—

(१) मनुष्य को स्वातन्त्र्य की ओर ले जानेवाली स्थितियों के समन्वय के साथ-साथ मानव जाति की प्रतिष्ठा, जिससे कि वह अपने ही स्वभाव और सामर्थ्य के अनुसार विकासशील बने।

(२) नैतिक व्यवस्था के ढाँचे के भीतर ही मनुष्य के कार्यकलाप और सामाजिक संबंधों में अनुरूपता।

(३) जीवन-संबंधी सर्जनात्मक कला की प्रेरणा—जिसके द्वारा मानवोचित वृत्तियाँ प्रगति करते-करते उत्कृष्टताओं में परिवर्तित होती हैं, ताकि मनुष्य ईश्वर का निमित्त-मात्र बन जाय और ईश्वर का विश्व में एवं विश्व का ईश्वर में साक्षात्कार करे।

यह बहुत उपयुक्त हुआ है कि बुक यूनिवर्सिटी की प्रथम भेंट महाभारत का संक्षिप्त सस्करण है जिसे श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जैसे सुयोग्य पुरुष ने लिखा है। ये महानुभाव

आज के प्रतिष्ठित भारतीयों में से एक महापुरुष हैं। दूसरी पुस्तक 'गीता' के विषय में है जिसे श्री यच. वी. दिवातिया (H. V. Divatia) ने लिखा है।* ये महोदय कानून के प्रख्यातनामा विशेषज्ञ हैं और दर्शनशास्त्र के अध्येता भी। शताब्दियाँ बीत गईं जब कि घोषित किया गया था कि "जो इस ग्रन्थ रत्न में उपलब्ध नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है।" आज २५ सदियों के बाद भी हम यही बात दुहराकर कह सकते हैं। जो गीता को नहीं जानता, वह जीवन को, उसकी आजमाइशों को, उसके कष्टों को और उसकी महत्ता को नहीं जानता।

महाभारत केवल ऐतिहासिक पुस्तक नहीं है। वह एक 'रोमांस' भी है, वीर पुरुषों और वीराङ्गनाओं की कहानी है, जिनमें से कुछ व्यक्ति दिव्य कोटि के थे। वह पूर्णतया एक साहित्य-ग्रन्थ है, जीवन-संबंधी समग्र आचारों का ग्रन्थ है, और वह सामाजिक, नैतिक तथा चिन्तन का एक 'दर्शन-ग्रन्थ' है। 'गीता' उसका हृदय है जो गीता कि धार्मिक ग्रन्थों में उत्कृष्ट है, जो आख्यान की दृष्टि से श्रेष्ठ है और जिसके ११वें अध्याय में क्रम प्राप्त 'दिव्य-दर्शन' हैं।

भारत का प्राचीन एवं नवीन साहित्य, उसकी सभी भाषाओं के माध्यम से, वाङ्मय के ऐसे विशाल भंडार में केन्द्रीकृत किया जायगा, जो कि सबके लिए सुलभ हो। इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले अन्य भाषाओं के

---

* अन्य पुस्तकों के साथ इन दोनों पुस्तकों के भी हिन्दी संस्करण क्रमशः प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थ भी इस भंडार में शामिल कर लिये जायँगे। मैंने यह अनुभव किया है कि सांसारिकता अपने अनावृत रूप में हमें बहुत अधिक घेरे हुए हैं। ऐसी परिस्थिति में पुस्तकों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य और जाग्रत् की गई अभिलाषा हमें जितना अधिक ऊपर उठावेगी, हमें अनुप्रेरित और समुन्नत करेगी, उतना अधिक और कोई पदार्थ नहीं कर सकता।

मैं उन सभी व्यक्तियों को धन्यवाद समर्पित करता हूँ जिन्होंने 'भवन' के इस विभाग के कार्य को सफल बनाने में सहायता प्रदान की है और उसके निमित्त कार्य किया है।

१. क्वीन विक्टोरिया रोड,
नई दिल्ली,
ता० ३ अक्टूबर, १९५१ ई० } **के० यम० मुंशी**

भूमिका

हजारों वर्ष बीत चुके जब कि इस प्राचीन भूमि के वन-प्रदेशों से वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की संगीतमयी वाणी प्रतिध्वनित हुई। इन ऋषियों के मुख से इस विश्व की अद्भुत सृष्टि की प्रशंसा में गद्य-पद्यमयी वाणी सहसा फूट पड़ी थी। उनके चतुर्दिक् जो प्राकृतिक घटनाएँ हुईं, उनके प्रति उन्होंने बौद्धिक भूमिका पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया और एक ऐसे उत्कृष्ट तत्त्व को प्राप्त किया जिसकी कि उद्घोषणा उन्होंने विश्व में व्याप्त और विश्व को संचालित करनेवाले आत्मतत्त्व के रूप में की। उन ऋषियों ने अपने आह्लादातिरेक में गान किया था:—

"अमरतत्त्व के हे संतानो !
सुनो ! ज्ञात है महापुरुष यह।
अन्धकार के परे सूर्य-प्रभ ॥
केवल जिसे जान लेने से,
मृत्यु-संतरण हो जाता ॥
इसे छोड़कर अन्य मार्ग,
कोई भी ज्ञात नहीं होता ॥"

इन ऋषियों की ये चेतनाएँ हमें पूर्णरूपेण उपलब्ध हैं, और हजारों वर्षों का अन्तर होने पर भी उनकी नवीनता में तनिक-सा भी ह्रास नहीं हुआ है। आधुनिक युग में

सभ्यता का इतना उत्कर्ष होने पर भी एवं दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में लोकोत्तर विकास होने पर भी मानव-समाज ने अब तक ऐसी कोई विवेचना प्रस्तुत नहीं की जो उन भावनाओं की अपेक्षा उत्कृष्ट हो।

जिस प्रकार भौतिक संसार में प्राणियों का विकास होता रहता है उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में धार्मिक भावनाओं का विकास होता है। मैंने इन पृष्ठों में इन्हीं भावनाओं का क्रमिक विकास अति प्राचीन समय से लेकर उपनिषदों तक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

यह वे पवित्र ग्रन्थ हैं जो युग-युगान्तर से स्वतः प्रमाण माने जाते रहे हैं, और जिनके उल्लेखों की सत्यता के सम्बन्ध में कोई शंका नहीं की जा सकती। इनके बाद का समग्र वाङ्मय स्मृतियों के सहित इन्हीं सद्ग्रन्थों की भावनाओं से अनुप्राणित है। जब भी किसी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा हुई तभी उसके अनुमोदन के लिए वेदों का ही आश्रय लिया गया। वेद ही भारत के लिए उत्कृष्ट परम्परागत उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं, जिनमें निहित संस्कृति के कारण भारतवर्ष को सभ्य संसार में चिरंतन रूप से उच्च स्थान प्राप्त है।

प्रत्येक संस्कार में तथा प्रत्येक यज्ञ में धनी और निर्धन के गृह में समान रूप से इन्हीं के सूक्त गाये जाते हैं।

आधुनिक युग में भी युद्ध की भावनाओं से आक्रान्त संसार के लिए उनके चिरंतन मूल्य आज भी उपयुक्त हैं। इन ग्रन्थों से, जो कि प्राचीन भारत के बहुमूल्य साहित्य-ग्रन्थ हैं,

एक विशेष प्रकार का संदेश प्राप्त होता है जो कि देश और काल के कृत्रिम बंधनों के परे हैं।

इस भूमिका को समाप्त करने के पहले मैं माननीय डाक्टर के० एम० मुंशी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिनकी प्रेरणा के बिना यह ग्रन्थ न लिखा जाता। साथ ही श्रीशान्तिलाल तोलत को मैं धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने मुझे अनेक बहुत उपयोगी सुझाव दिये।

यदि आजकल के लोग वैदिक और वेदान्त-दर्शन की शिक्षाओं को आत्मसात् कर लें तो संसार में निराश होने का कोई कारण नहीं है। ये शिक्षाएँ हर समय मानव के लिए उपयुक्त हैं और रहेंगी; क्योंकि जिस प्रकार के संसार का भान प्राचीन ऋषियों ने किया, वह शाश्वत रूप में नवीन ही है।

बंबई,
जनवरी २६, सन् १९५२ ई० } **शकुन्तला राव शास्त्री**

विषय-सूची

———

नवीन जगत् मे प्राप्त

लालसाएँ

अध्याय १

वेद

प्रगतिशील हम हैं, हम हैं,
गतिमान् काल-पर्वत की ओर।
स्वर्णमयी रवि-भा से युत हो,
यथावसर, निज गति के साथ ॥

भारतवर्ष के धार्मिक विकास का इतिहास देश में विद्यमान धार्मिक साहित्य से ही मुख्यतया संकलित किया जा सकता है। भारत का प्राचीनतम धार्मिक साहित्य जो हमें उपलब्ध होता है वह वेदों के रूप में ही है। वेद इस देश के सबसे पवित्र धर्म-ग्रन्थ माने जाते हैं। उनका निर्माण-काल निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता, परन्तु वे अवश्यमेव

अति प्राचीन और भिन्न-भिन्न काल के हैं। अधिक समय तक वे भारत के आर्य निवासियों के भिन्न-भिन्न वर्गों में बिखरे रहे। प्रत्येक प्रमाण के अनुसार यह सिद्ध है कि भारत में लेखनकला कुछ बाद में आविष्कृत हुई। चारों वेदों में प्राचीनतम वेद ऋग्वेद के मंत्र या सूक्त भारत में लेखनकला के बहुत पूर्व रचे गये थे। बहुत समय तक ऋग्वेद के सूक्तों का संरक्षण पीढ़ी दर पीढ़ी गुरु-शिष्य की मौलिक शिक्षण परम्परा द्वारा होता रहा। यथार्थ में वैदिक मन्त्रों का लिपि-बद्ध किया जाना हाल की घटना है। इस समय भी प्राचीन रूढ़िवादी परम्परा है कि उनका शिक्षण विशिष्ट शिक्षकों द्वारा मौखिक रूप से होता है, न कि लिखित ग्रन्थों से।

भारतीय मस्तिष्क में यह दृढ़ परम्परा स्थिर है कि वेद मनुष्यकृत नहीं हैं, प्रत्युत ईश्वर द्वारा प्रादुर्भूत हैं। इसी से यह प्रकट होता है कि वर्तमान रूप में वेदमंत्रों का संकलन उनके निर्माण के बहुत दिन बाद तक नहीं हुआ था और इसी बीच उनके उद्गम और रचयिताओं को लोग बहुत कुछ भूल गये। आजकल की यह मान्यता कि चार ऋषियों ने मौलिक रूप में चारों वेदों की रचना की और बाद में आधुनिक रूप में उन्हें व्यास ने विभाजित और क्रमबद्ध किया, बहुत लचर है। वास्तविक ग्रन्थों के ज्ञान की न्यूनता के कारण ही इस भावना का विकास दीर्घकाल तक होता रहा। इस परम्परा के पीछे इस सत्य का अंश निहित है कि वेदमंत्र, जिनकी रचना भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न समय और स्थान में की, अपने वर्तमान रूप में व्यक्तिविशेष

द्वारा अथवा अधिक संभाव्य रूप से व्यक्तियों के समुदाय द्वारा एकत्र और क्रमबद्ध किये गये। यह व्यक्ति या समुदाय कौन था अथवा इस कार्य का सम्पादन किस समय हुआ, यह निर्धारित नहीं किया जा सकता, परन्तु वेदों के क्रमबद्ध करने की विचारधारा यथार्थ रूप से सत्य है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत दिनों तक वेदमंत्र भारत के आर्य निवासियों के विभिन्न वर्गों में बिखरे रहे। वे भिन्न-भिन्न समय में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा रचे गये और मौलिक प्रणेताओं के शिष्यों और सम्बन्धियों द्वारा संरक्षित किये गये। दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की विचारधारा, अपने उदार अर्थ में, यदि उद्भूत हो सकती है तो केवल विवेकहीन और अन्ध-भक्ति के युग में जब कि मूल-ग्रन्थों से लोगों का सम्पर्क कम रहा हो, क्योंकि तर्क और अनुभव के विचारों को छोड़कर सूक्तों में निस्संदेह उनके मानवी कृति होने के चिह्न स्पष्ट हैं। अनेक सूक्तों के मंत्रपाठ में रचयिताओं के नामों का भी उल्लेख है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के प्रथम मंडल में बासठवें सूक्त के अन्तिम मंत्र में लिखा है, "हे इन्द्र ! गौतमपुत्र बुध ने हम लोगों के लिए आपके इस नये सूक्त की रचना की है।" दूसरे मंडल का उन्तालीसवाँ सूक्त इस प्रकार समाप्त होता है, "अश्विनी देवताओं के गुण-संकीर्तन में गृत्समद ने इस नवीन प्रशंसात्मक सूक्त की रचना की।" दसवें मंडल के तेईसवें सूक्त के छठे मंत्र में लिखा है, "हे इन्द्र, आपकी प्रतिष्ठा में विमदों ने इस नये सूक्त की रचना की है।" इस प्रकार के उल्लेख वैदिक मंत्रों में अनेक हैं। वेदकालीन ऋषियों ने स्वरचित सूक्तों के

मंत्रों में अपने नामों का परिचय दिया है, जैसा कि भारत में चारणों और गायकों के समाज में था और जैसी कि प्रथा अब भी वर्तमान है। यह भी विवाद का विषय नहीं हो सकता कि सूक्त ऋषियों को किसी के द्वारा ज्ञात कराये गये; क्योंकि वे प्रायः स्वयं कहते हैं कि ये सूक्त नये हैं जिन्हें उन्होंने बड़े परिश्रम से रचा है। हमने इस सूक्त की रचना अपने ज्ञान और योग्यता के अनुसार की है[1]। जिस प्रकार एक कुशल और बुद्धिमान् शिल्पी रथ का निर्माण करता है, उसी प्रकार हे अग्नि, हमने आपकी स्तुति में यह सूक्त रचा है[2]।

इस प्रकार, जैसा कि प्रत्येक देश और काल में होता रहा है, भारत में इन आर्य निवासियों ने, जिनमें कि कवित्वशक्ति थी, छन्दोबद्ध रचनाओं द्वारा अपना गायन आरम्भ किया। इस पर संदेह हो सकता है कि आरम्भ में इन सूक्तों का प्रयोजन और प्रणयन यज्ञ के लिए था; परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि पुरातन काल से इन कवियों की महती प्रतिष्ठा रही है और उनकी रचनाएँ बड़ी सावधानी से सुरक्षित की गई हैं। काल-क्रमानुसार कवियों और गायकों के प्रसिद्ध वंशों का विस्तार हुआ। प्रत्येक वंश ने कवियों के इन सूक्तों को एक बहुमूल्य बपौती मानकर सुरक्षित रखा। इस प्रकार कुछ सूक्तों का संग्रह विख्यात ऋषियों के नाम से संबद्ध हो गया, जिनके नाम वशिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव, गृत्समद, अत्रि, भरद्वाज और कण्व हैं। इनमें से प्रत्येक संग्रह चिरकाल तक स्वतन्त्र

---

१. ऋ० वे० १. १. १८। २. ऋ० वे० ५. २. ११।

रूप से पृथक् रहा। यह सम्भव है कि आरम्भ में बहुत समय तक हरएक वंश ने अपने सूक्तों का ही यज्ञ में प्रयोग किया हो। क्रमशः ये संग्रह आदिम निवासियों के अनेक समुदायों में प्रचलित हो गये और इतना तो निश्चय ही है कि उनमें से सबसे उत्तम संग्रहों का अधिक प्रचार हुआ। समाज में सामूहिक एकता और राष्ट्रीय चेतना के बढ़ने पर, इस समस्त काव्यमय साहित्य के संकलन की आवश्यकता हुई। इस प्रकार उस ग्रन्थरत्न का निर्माण हुआ जिसे आज हम ऋग्वेद कहते हैं।

परन्तु इसके बहुत पहले कुछ सूक्त विशेषरूप से यज्ञीय कार्यों के लिए प्रयुक्त हो चुके थे। उदाहरणार्थ, कुछ मंत्र केवल गाने के लिए होते थे, कुछ यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित होने पर गाये जाते थे और कुछ का ज्ञान सोमाभिषेक-सम्बन्धी कृत्य के समय किया जाता था। इस प्रकार विशेष कार्य के लिए विशेष मंत्र-संग्रह प्रचलित हो गये। जिन मंत्रों का उपयोग गायन के लिए होता था उन्हें सामन् कहा जाने लगा और कालान्तर में अनेक मंत्र गाने के लिए चुनकर अलग कर लिये गये। इन सब मंत्रों का सामवेद में अन्तर्भाव हुआ। इन्हीं मन्त्रों के दूसरे समुदाय का प्रयोग यज्ञ-सम्बन्धी अनेक कार्यों में पढ़े जाने के लिए होने लगा और इन्हें यजुष् का नाम दिया गया। यह सत्य है कि इन संग्रहों के निर्माण में बहुत समय लगा होगा। इस प्रकार विभिन्न सूक्तों का संग्रह बनने लगा, यहाँ तक कि ये अपने वर्तमान कलेवर और विस्तार में आ गये। ऋग्वेद आर्य लोगों के पवित्र

पुरातन साहित्य का वह सामान्य ग्रन्थ है जो सुरक्षित रखने के उपयुक्त समझा गया तथा चारों वेदों में यह प्राचीनतम स्वीकृत हुआ। परन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं है कि ऋग्वेद की रचना या उसके अन्तर्भूत सूक्तों की रचना अन्य वेदों के आरम्भ के पहले हो चुकी थी। इससे इतर अन्य वेदों की रचना किसी सीमा तक, बहुत कुछ साथ ही शुरू हुई होगी। यह सम्भव है कि उनमें से किसी एक की रचना का आरम्भ कुछ पहले से ही हुआ हो, और किसी एक संहिता की रचना उसके बाद पूर्ण हुई हो। ऋग्वेद में ही हमें सामन् शब्द का प्रयोग मिलता है, "हे इन्द्र! गाये जाते हुए सामन् को सुनें[1]। सामन् उनके पास पहुँचते हैं।"[2]

इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के सम्पूर्ण होने के पहले कुछ मंत्र, विशेष रूप से सामन् के नाम से विख्यात थे। यह सम्भव है कि ऋग्वेद का संकलन सामवेद और यजुर्वेद के साथ ही हुआ हो।

अब ऋग्वेद के सम्बन्ध में विचार करने से—जिसमें कि सामवेद के अधिकतर और यजुर्वेद के भी बहुत से मंत्र हैं—ऐसा प्रतीत होता है कि इस वेद का यज्ञ-सम्बन्धी कोई विशेष प्रयोजन न था। यह आर्यों के काव्यमय साहित्य का एक सामान्य संग्रह है। इसमें कुल दस हजार से कुछ अधिक कविताएँ हैं जिनमें प्रत्येक में दस मंत्रों का औसत है। जो संहिताएँ हमें मिली हैं उनमें दो प्रकार के मंत्रों के विभाजन हैं। पहला दस भागों में है, जिनमें से प्रत्येक भाग

---

१. ऋ० वे० ८ ८१. ५। २. ऋ० वे० ५. ४५. १४।

मण्डल कहलाता है। दूसरा आठ भागों में है और उसके प्रत्येक भाग को अष्टक कहते हैं। प्रत्येक अष्टक फिर आठ आठ अध्यायों में विभाजित है, और प्रत्येक अध्याय कई वर्गों में। मंडल अलग-अलग कविताओं में बँटे हैं। इन भागों को सूक्त कहा जाता है। मंडलों और सूक्तों में संहिता का विभाजन किसी प्रयोजन से हुआ है और यह विभाजन पूर्ण-तया वैज्ञानिक है। परन्तु अष्टकों और अध्यायोंवाले विभाजन से कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं निकलता। बिना किसी भीतरी प्रयोजन या सिद्धान्त के अष्टकों और अध्यायों का आरंभ और अन्त अनायास ही होता है। यह प्रत्यक्ष है कि दोनों प्रकार के विभाजनों में से, मंडलोंवाला विभाजन पहले का है। अब प्रश्न यह उठता है कि मंडलोंवाले पहले के विभाजन के अंतर्गत—या इस वैज्ञानिक विभाजन के साथ ही साथ—अष्टकों और अध्यायोंवाला नितान्त अवैज्ञानिक विभाजन क्यों किया गया। जो उत्तर मेरे विचार में आता है वह यह है कि अष्टकोंवाला विभाजन इस सामान्य प्रयोजन से किया गया था कि ऋचाओं को कंठस्थ करने के लिए एक सुविधापूर्ण विभाजन उपलब्ध हो। मंडलों का विस्तार बहुत न्यूनाधिक है। उदाहरण के लिए, पहला मंडल दूसरे से चौगुना और तीसरे से तिगुना है। जैसा कि हमें ज्ञात है, चिरकाल तक वेदों का पठन-पाठन और संरक्षण उन्हें कण्ठ करके ही होता रहा, और इसके लिए यही सुविधाजनक था कि संहिता के बराबर बराबर भाग किये जायँ। अष्टकों का विस्तार अधिक नियमित है। अष्टकों और अध्यायोंवाला

विभाजन बहुत प्राचीन भी है। कात्यायन ने, जो लगभग ३०० ई० पू० थे, यही विभाजन स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ में हम अधिक प्राचीन और वैज्ञानिक, मंडलों और सूक्तोंवाले विभाजन को ही हवाला देने के लिए स्वीकार करेंगे।

मंडलोंवाला विभाजन, मंत्र-रचयिताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। दस मंडलों में से सात—दूसरे मंडल से लेकर आठवें मंडल तक—एक ही ऋषि द्वारा या एक ही ऋषिवंश द्वारा रचे गये हैं। जैसे दूसरा मंडल गृत्समद द्वारा, तीसरा विश्वामित्र द्वारा, चौथा वामदेव द्वारा, पाँचवाँ अत्रि द्वारा, छठा बृहस्पति-गोत्र द्वारा और सातवाँ कण्व द्वारा रचित है। शेष तीन मंडल अनेक ऋषियों की रचनाएँ हैं। नवें मंडल का वर्णनीय विषय एक ही है—यह अनेक ऋषियों द्वारा प्रणीत सोम-सम्बन्धी सूक्तों का संग्रह है। पहले और दसवें मंडल में, न तो प्रणेता के विचार से और न विषय के ही विचार से कोई क्रमबद्धता है। ये अनायास ही एकत्र किये गये सूक्तों के संग्रह हैं। ऐसा लगता है कि ये इधर-उधर बिखरे हुए सूक्तों के, कुछ पीछे किये गये संग्रह थे, जो या तो पिछली रचनाएँ होने के कारण या किसी अन्य कारण से, पहले के मंडलों में सम्मिलित नहीं किये गये। संभवतः ऋग्वेद के मंत्रों के सबसे अन्तिम संग्रह के पहले बहुत समय तक ये एक ही प्रकार के सात मंडल, जिनको ऋषि-गोत्रों के मंडल भी कहते हैं, एक स्वतः पूर्ण और पृथक् पृथक् प्रबन्धों के रूप में बने रहे, जिसका कारण यह था कि वे विशेष ऋषिगोत्रों के द्वारा रचे गये एवं सुरक्षित रखे गये

थे। यह भी संभव है कि पहलेपहल, प्रत्येक गोत्र या वंश ने यज्ञकार्य में स्वरचित मंत्रों का ही प्रयोग सम्पूर्ण रूप से या कम से कम मुख्य रूप से किया हो। ऋषिगोत्रों द्वारा रचित मंडल स्वतः पूर्ण हैं। इनमें से प्रत्येक का आरंभ अग्नि के कतिपय सूक्तों से होता है। इसके बाद कुछ इन्द्र के सूक्त आते हैं जिनमें कम से कम कुछ सूक्त ऋग्वेदीय देव-समुदाय के मुख्य-मुख्य देवताओं के हैं। समग्र नवों मंडलों में यही एक सा क्रम है। इनमें से नवें मंडल में केवल सोम-सूक्त हैं। इस प्रकार ऋषि-गोत्रोंवाला प्रत्येक मंडल समग्र रूप से स्वतः पूर्ण था। इससे असन्दिग्ध रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि या तो एक साहित्यिक रचना के रूप में या यज्ञ-सम्बन्धी एक छोटी पुस्तक के रूप में वे अलग-अलग थे।

नवें मंडल पर टीका करते हुए प्रो० मेकडोनेल ने लिखा है कि यह मंडल उस समय बना जब कि पहले के आठ मंडल एक ग्रन्थरूप में संगृहीत हो चुके थे। परन्तु मैं इसके विपरीत ही विचार करने का साहस करती हूँ। ऋषि-गोत्रोंवाले मंडलों के संग्रह के समय में ही, सोम-सम्बन्धी मंडल की किसी न किसी प्रकार की सुसम्बद्ध रूप में सत्ता थी। प्रोफेसर मेकडोनेल जिस आधार पर सोमसूक्तों का रचना-काल पीछे मानते हैं, वह यह है कि इन सूक्तों की रचना उन्हीं गोत्रों के ऋषियों ने की थी जिन्होंने दूसरे मंडल से लेकर सातवें मंडल तक की रचना की है। अतः उनकी दलील यह है कि जिस समय भिन्न-भिन्न गोत्रों के सूक्तों को मंडलों के रूप में संगृहीत किया गया—और स्पष्ट रूप से उसके

पहले नहीं—उन सूक्तों के सभी पवमान (सोम)-सूक्त पृथक् कर लिये गये और उनका एक संग्रह प्रस्तुत किया गया। परन्तु मेरे विचार से इन्हीं तथ्यों के आधार पर इसके विपरीत यह परिणाम निकाला जा सकता है कि समग्र सोमसूक्तों का किसी न किसी प्रकार का पृथक् संकलन था; अन्यथा उनका वर्गीकरण रचयिताओं की अन्य रचनाओं के साथ ही हुआ होता। इस बात की अत्यधिक संभावना है और यह नितान्त स्वाभाविक लगता है कि चूँकि सोमयाग सबसे प्राचीन था—पूर्व काल में तो कम से कम अवश्य ही था—और चूँकि वह आर्य लोगों के सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों में सबसे आवश्यक था, अतः उक्त याग के समग्र सूक्तों को प्रधानता प्राप्त हुई और बहुत पहले से ही वे एक संग्रह के रूप में एकत्र कर दिये गये थे। बाद में जब सामान्य रूप से सभी सूक्तो का संग्रह किया जाने लगा तब संग्रह करनेवालों ने सोमसूक्तों के विभिन्न रचयिताओं की रचनाओं के साथ क्रम-बद्ध करने के लिए, उन्हें अस्त-व्यस्त करने की चेष्टा नहीं की, वरन् उन्हें एक पृथक् ही मंडल के रूप में अलग बनाये रखा। इसलिए, एक संग्रह के रूप में, मैं नवें मंडल को अन्त की तरफ़ रखने की अपेक्षा पहले रखना चाहूँगी। पर, यह बात विशेष सूक्तों में लागू नहीं है; क्योंकि अन्य मंडलों के कुछ सूक्त भी उतने ही प्राचीन अथवा उनसे अधिक प्राचीन हैं।

ऋग्वेद के विभिन्न भागों का पूर्वापर रूप से काल-निर्णय करना, एक अति दुरूह कार्य होगा जो हमें हमारे मुख्य उद्देश्य से बहुत दूर कर देगा। प्रस्तुत समीक्षा के लिए केवल इस बात

की ज़रूरत है कि हम यह निश्चित धारणा बना लें कि ऋग्वेद एक ही काल की रचना नहीं है तथा ऋग्वेद में संगृहीत दस हज़ार से कुछ अधिक मंत्रों की रचना अवश्य ही एक बहुत लंबे अरसे में पूरी हुई होगी——संभव है, कुछ शताब्दियों में हुई हो। साथ ही यह भी स्वीकार कर लें कि इनमें से कुछ का संकलन पहले और कुछ का बाद में हुआ। यह तो अभी देख चुके हैं कि संभवतः नवम मंडल संगृहीत रूप में शेष मंडलों के पहले से मौजूद था। प्रथम और दशम मंडल निस्संदेह पीछे संगृहीत हुए।

———

अध्याय २

ऋग्वेद की सामाजिक दशा

"आशा की किरणें हम पर, अवतीर्ण भले ही हो जाएँ,
मानवता के उग्र परिश्रम औ' संघर्षों के द्वारा।
कभी न वैसी निकल सकेगी उनसे चमक, कभी भी——हाँ,
जीवन-सुप्रभात में जैसी ताराओं से थी निकली।"
(टेनिसन् के एक पद्य का रूपान्तर)

ऋग्वेद की धार्मिक मनोवृत्तियों को समझने के लिए यह जरूरी है कि जिन लोगों में इन प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनकी सामान्य दशा पर हम एक दृष्टि डाल लें। वैदिक काल में आर्य लोगों के समाज का ठीक-ठीक चित्र अंकित करने के लिए ऋग्वेद से हमें प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। हमारे सामने एकदम पूर्ण युवा, उत्साहपूर्ण, प्रसन्न और आशायुक्त व्यक्तियों का चित्र उपस्थित होता है। समग्र ऋग्वेद जीवन के तीव्र आह्लाद से ओतप्रोत है। उस समय तक मानव-जीवन की गंभीरतर तथा उदासीनतर समस्याओं की छाया भी उन लोगों के मन पर न पड़ी थी।

प्रत्यक्ष रूप से उस समय के समाज में सादगी का आदि-रूप दिखता है। उस समय जीवन-संबंधी आवश्यक पदार्थ प्रचुर मात्रा में सर्वत्र उपलब्ध थे और जीवन संघर्ष में कोई तीव्रता न आई थी। जिन लोगों ने ऋग्वेद के सूक्तों को बनाया था उनके लिए जीवन एक ईश्वरीय देन था। उन लोगों के समग्र वचनों में हर्ष और उल्लास के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं। उनके लिए प्रकृति स्मित-वदना थी। उनके चारों ओर उपजाऊ भूमि, विस्तृत नदियाँ और प्रचुर मात्रा में उद्भिज्ज थे। उपयोगी वृक्षों तथा सुप्राप्य लताओं से युक्त, काफी ऊँचे पर्वत भी अवश्य ही थे। वह समय आतपपूर्ण था और ऋतुपरिवर्त्तन यथाक्रम होता था।

जिस स्थान पर ऋग्वेद के मंत्र रचे गये, उसे ठीक-ठीक बताना संभव नहीं। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि मंत्रों का अधिक भाग, पहलेपहल सिन्धु और उसकी सहायक नदियों से आप्लावित प्रदेश में, गाया गया। सप्त-सिन्धु के रूप में सात नदियों का बार-बार निर्देश हुआ है। असन्दिग्ध रूप से इनके अन्तर्गत सिन्धु और उसकी पाँच सहायक नदियाँ हैं, जिनके आधार पर आधुनिक पंजाब का नामकरण हुआ। इन्डस् का प्राचीन नाम—अर्थात् सिन्धु—ऋग्वेद में बराबर मिलता है। यथार्थ में, ऋग्वेदकालीन आर्यों के लिए सिन्धु सबसे महत्त्वपूर्ण नदी थी। उन्होंने अन्य नदियों की अपेक्षा सिन्धु की अधिक प्रशंसा की है। दशम मंडल के ७५ वें सूक्त में अनेक नदियों का नामोल्लेख है। इन सब में सिन्धु को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। यहाँ तक कि सिन्धु शब्द

नदियों का सामान्य रूप से वाचक शब्द हो गया। गंगा नदी—जो पीछे से, धार्मिक साहित्य तथा जनसमुदाय की कल्पना में नदियों में मुख्य मानी गई—उस समय विशेष महत्त्व न पा सकी थी। उसकी सहायक नदी यमुना भी, जिसे पौराणिक काल में, भारत की नदियों में सार्वजनिक प्रतिष्ठा के अनुसार दूसरा स्थान दिया गया था, उस समय पीछे ही छूट गई थी। सम्पूर्ण ऋग्वेद में गंगा का नाम एक ही बार आता है और यमुना का तीन बार[1]। पर सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों का नाम बार बार आता है।

इस बात का निर्णय करनेवाली साक्ष्य-सामग्री मौजूद है कि वैदिक समाज का आवास सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों के पास-पड़ोस था। ये नदियाँ उस समय शुतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, आर्यकीया और वेतसा के नाम से प्रसिद्ध थीं। इनमें से शुतुद्री को अब भी शतद्रु कहते हैं और आधुनिक भूगोल की 'सतलज' यही है। यास्क ने 'परुष्णी' को 'इरावती' और 'आर्यकीया' को 'विपासा' या 'व्यास' माना है। 'असिक्नी' 'चेनाव' और 'वेतसा' 'झेलम' है। ऋग्वेद में जिस दूसरी नदी का सिन्धु के समान महत्त्व है उसका नाम सरस्वती है। यह निर्धारित करना तो कठिन है कि इस नाम से किस नदी-विशेष का अभिप्राय है। भारत की वर्त्तमान नदियों में से 'सरस्वती' नाम से कोई प्रसिद्ध नहीं है। परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुसार गंगा-यमुना के मध्य में भूगर्भ-वाहिनी एक नदी को यह नाम दिया गया है। ऋग्वेद में

---

१. ऋ. वे. ५. ५१. १७ ; ८. १८. १८; १०. ७५. ५.।

सरस्वती का नामोल्लेख ही इस बात का मूलाधार हो सकता है। चूँकि पिछले खेवे के भूगोलज्ञों ने सरस्वती नाम की कोई नदी नहीं पाई, उन्होंने यह मान लिया कि सरस्वती गुप्त हो गई है और भूगर्भ में बहती है। यह भी नितान्त सम्भव है कि पहले सरस्वती नाम की कोई नदी रही हो जो बाद में नैसर्गिक कारणों से विलुप्त हो गई हो। कुछ लोगों की यह भी कल्पना है कि सिन्धु का ही दूसरा नाम सरस्वती है। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या का निराकरण इस बात से हो जाता है कि सिन्धु के ही साथ-साथ सरस्वती का भी नाम आता है। गंगा और यमुना के यत्र-तत्र नामोल्लेख से यही सूचित होता है, उन सूक्तों के रचनाकाल तक आर्य लोग इन नदियों के निकट प्रदेश तक बढ़ आये थे।

आधुनिक काल में विख्यात अन्य दो नदियों के नाम — सरयू और गोमती — का भी उल्लेख हुआ है। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि आर्य लोग आजकल की सरयू और गोमती के तटों तक फैल गये थे। अवश्य ही पंजाब के मैदानों की किन्हीं दो छोटी नदियोंके ये नाम होंगे। सायण ने तो गोमती शब्द को नदी का ही पर्याय माना है—गो शब्द से जल का अर्थ ग्रहण करके। परन्तु किसी भी दशा में गोमती निस्सन्देह पंजाब में ही थी; क्योंकि दशम मंडल के ७५वें सूक्त के छठे मंत्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि सिन्धु गोमती से मिलती है और कुमु कुभा और मेहत्नु से। इससे और निष्कर्ष चाहे जो निकले, सात नदियों के प्रायः एकहीं साथ उल्लेख से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ऋग्वेद के सूक्त अधिकतर

उस भूभाग में रचे गये जो सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों से आप्लावित था।

इसी बात पर अन्य दृष्टिकोण से विचार करने पर भी यही परिणाम निकलता है। वैदिक समाज में सोम नाम की वनस्पति का बड़ा महत्त्व था। यह केवल यज्ञों के लिए अनिवार्य ही नहीं थी, वरन् एक सर्वप्रिय साधारण पेय पदार्थ भी था। ऋग्वेद के सूक्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक दैनिक व्यवहार में आनेवाला पदार्थ था। सोम ऐसी वनस्पति थी जो पर्वतीय प्रदेशों में ही उगती थी। यथा—"यह सोम विशाल पत्तों से समाच्छादित पृथ्वी के मध्य में पर्वतों पर निवास करता है[१]" 'हे सोम तुम्हारी जन्मस्थली द्युलोक में है। वहाँ से तुम्हारे अंग पर्वतों पर डाले गये जहाँ वे वृक्ष के रूप में उगे[२]"। "पर्वतीय प्रदेशों में उत्पन्न इन सोमलताओं का अभिषव, देवताओं के समागम के स्थान यज्ञस्थली में किया जा रहा है[३]।" अतः वैदिक सूक्तों की रचना करनेवाले ऋषि अवश्य ही ऐसे स्थान पर रहते होंगे जो किसी न किसी पर्वत के निकट रहा होगा।

सोमयज्ञ वैदिककाल के हिन्दुओं का एक मुख्य धार्मिक कृत्य था। पर इस का प्रचार क्रमशः शिथिल होता गया। यहाँ तक कि लोग इस वनस्पति को भी भूल गये। पिछले धार्मिक साहित्य में हम इसका कोई उल्लेख नहीं पाते। यहाँ तक कि इसकी पहचान ही नष्ट हो गई और इसके बदले में प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों की कल्पना भी कर डाली गई। इस वृक्ष-विशेष की प्राप्ति के

---

१. ऋ. वे. ९,८२,३; २. ऋ.वे. ९,७१,४; ३. ९,४०,५।

अभाव में यह बड़ा परिवर्तन हो सका होगा। ज्यों-ज्यों आर्य लोग गंगा के मैदानी भाग में आगे-आगे बढ़ते गये और इस प्रकार हिमालय-पर्वतमाला से दूर होते गये, पर्वत पर उगनेवाले सोम की प्राप्ति अधिकाधिक दुस्साध्य होती गई। अन्ततोगत्वा यह वनस्पति सामाजिक एवं धार्मिक जीवन से ही ओझल हो गई। ये सभी तथ्य असन्दिग्ध रूप से यही संकेत करते हैं कि वैदिक सूक्तों की रचना हिमालय की तलहटी में हिन्दूकुश के निकट पंजाब के मैदानों में हुई।

यहीं आर्य लोग अधिक समय तक रहे होंगे और क्रमशः वंशवृद्धि तथा नवागन्तुकों के कारण पूर्व और दक्षिण की ओर धीरे-धीरे अधिक दूर तक बढ़ते रहे होंगे। इस समय जीवन सरल और सुखमय था। और इसका अपवाद केवल यहाँ के मूल-निवासियों के साथ उनका युद्ध था। यह तो स्पष्ट है कि वैदिक युग के लोगों को किसी विदेशीय जाति से भिड़ना पड़ा था जिसे वे लोग दस्यु कहते थे। ऋग्वेद में आर्यों और मूल-निवासियों में—जिन्हें कि आर्य लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे—होनेवाले संघर्षों के असंख्य उल्लेख हैं। "हमारे चारों ओर दस्यु हैं, ये यज्ञ नहीं करते। इन्हें श्रद्धा-विश्वास भी नहीं है, और इनके धार्मिक कृत्य भी भिन्न हैं। इनकी गणना मनुष्यों में न होनी चाहिए। हे शत्रु को नष्ट करनेवाले! (इन्द्र!) इन्हें आप मारें। दस्यु-जाति का नाश करें।"[1]

ये कृष्ण-वर्णवाली जाति के लोग थे। आर्यों ने—जो कि गौरवर्ण थे—अपने इन शत्रुओं के वर्ण का उल्लेख

1. ऋ. वे. १०. २२. ८।

घृणास्पद ढंग से किया है और उन्हें "काले मनुष्य" तक कहा है। ऋग्वेद में 'दस्यु' और 'कृष्ण' विशेषणों का प्रयोग इनके लिए आम तौर पर हुआ है। "सोम का स्तवन करो, जो कि जल के समान वेग से ऐश्वर्यपूर्वक कृष्ण चर्मवालों को नष्ट करते हुए गतिशील है[1]।" "इन्द्र इन कृष्ण चर्मवालों से घृणा करते हैं[2]।" इस घृणा का एक बहाना तो यह था कि ये लोग आर्य-संस्कारों और रस्मों को नहीं मानते थे। ऋग्वेद में प्रायः इन्हें 'उपासना या स्तवनरहित' और 'यज्ञरहित' कह-कर ताना दिया गया है। आर्यों की धर्मान्धता की उद्दण्डता और उनकी विचार-संकीर्णता के कारण ये लोग यह नहीं विचार कर सके कि उनके धर्म के अलावा कोई दूसरा भी धर्म हो सकता है। हमने यह भी अभी देखा कि इन मूल-निवासियों की गणना इन्होंने मनुष्य-कोटि में भी नहीं किया, क्योंकि इनकी रीति-रिवाजें भिन्न थीं। बाद में उन्हें 'राक्षस' या 'असुर' तक कह डाला गया। यह सब होने पर भी ऐसा लगता है कि ये लोग अपने सफल विजेताओं से सभ्यता में बहुत पीछे न थे। इन आदिम-निवासियों का जो कुछ भी वृत्तान्त हमें उपलब्ध है वह या तो उनके आर्य शत्रुओं द्वारा या आधुनिक काल में 'महेंजोदरो' की खुदाई द्वारा मिला है। उसके द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि सभ्यता के क्षेत्र में इन लोगों ने काफी उन्नति कर ली थी। घमंडी आर्य लोगों के लिए ये कोई तुच्छ शत्रु न थे। भूमि के आधिपत्य के लिए दोनों जातियों का संघर्ष दीर्घकालीन एवं कठिन था।

---

१. ऋ. वे. ९. ४१. १; २. ऋ. वे. १. ७३. ५।

अनार्य लोग युद्ध में हथियारों, घोड़ों और रथों का उपयोग करते थे। उनके पुरों में किलाबन्दी थी। ऋग्वेद में अनेक बार उनके पुरों को लौह-निर्मित कहा गया है। उनके शम्बर नामक एक राजा के पास ९९ दुर्गों का होना बताया गया है जो कि इन्द्र की सहायता से आर्यों के राजा दिवोदास द्वारा जीते और तोड़े गये। ऋग्वेद में प्रायः इस घटना का उल्लेख शस्त्र-प्रयोग के अद्‌भुत कौशल के रूप में हुआ है। उनके पास पशु थे। कृषिकार्य भी उन्हें अज्ञात न था। ऐसा भी मालूम होता था कि उन्होंने धातु का प्रयोग करना जान लिया था और भूगर्भ से बहुमूल्य धातु निकालते थे।

इन मूल-निवासियों ने आर्यों का प्रभुत्व एक दीर्घकालीन और विषम संघर्ष के बाद स्वीकार किया। इनके साथ निर्दय और रक्तपातपूर्ण युद्ध हुआ। जिन विशेषताओं का प्रयोग आर्य लोगों ने इन शत्रुओं के लिए किया है उनसे हम यह भली भाँति जान सकते हैं कि विजेताओं के हृदय में इनके प्रति कोई कोमल भावनाएँ नहीं थीं। दोनों ओर की भावनाएँ अवश्य ही बहुत कटु रही होंगी। यह एक प्राणघातक युद्ध था। जब कुछ बचे-खुचे परिश्रान्त शत्रुओं ने पराभव स्वीकार कर लिया, तब आर्य लोगों ने उनके साथ कुछ उदारता का व्यवहार नहीं किया, बल्कि पशुवत् बर्त्ताव किया गया। 'दास' शब्द का प्रयोग ही घरेलू गुलामों के लिए होने लगा।

ये विजित शत्रु कृषि-कर्म एवं अन्य शारीरिक परिश्रम के कार्यों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए और शीघ्र ही व्यक्तिगत

सम्पत्ति के एक मूल्यवान् अंग हो गये। हमें ऐसा उल्लेख मिलता है, जहाँ अनेक प्रकार की सम्पत्ति के लिए ऋषियों ने प्रार्थना की है वहाँ अनेक दासों की प्राप्ति के लिए भी प्रार्थना की गई है। कालान्तर में अपने परिश्रम, स्वामिभक्ति और सेवा की उपयोगिता के कारण इन अभागे लोगों ने अपनी दशा कुछ सुधार तो ली, पर निम्न श्रेणी के माने जाने के कारण, आर्यवर्ग के दायरे के बाहर ही बने रहे। ये लोग केवल इसी के पात्र समझे जाते थे कि 'गौरवर्ण' वालों की परिचर्या करें और उनकी आराम की सामग्री जुटावें। देवताओं ने ही उन्हें नीच बनाया था। "जिसने (अर्थात् इन्द्र ने) दासों को नीच और विशृंखल बनाया[1]।" भूमि आर्यों के लिए ही दैव ने सुरक्षित की थी। विजित लोगों की भूमि का समग्र रूप से एकान्तिक अपहरण ईश्वरीय वाणी से अनुमत था। चतुर्थ मंडल के २६ वें सूक्त के दूसरे मंत्र में इन्द्र से कहलाया गया है कि पृथ्वी तो निसर्गतः आर्यों की है। "मैंने भूमि आर्यों को दी है। मैंने यज्ञ करने-वालों को वृष्टि प्रदान की है। जैसे पृथ्वी पर जल बरसता है, वैसे ही निसर्ग से ही पृथ्वी आर्यों की है।"

परन्तु इन मूल-निवासियों को इस नीची दशा में लाने में आर्यों को बहुत समय लगा। पहले उन्हें अनेक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। ऋग्वेद उसी मात्रा में यज्ञ-संबंधी सूक्तों का संग्रह है, जिस मात्रा में कि युद्ध-संबंधी सूक्तों का। सूक्तों का काफी बड़ा भाग इन्द्रादि देवताओं की स्तुति के रूप में है जो अनार्यों के साथ किये गये युद्ध में सहायता और विजय

---

१. ऋ. वे. २. १२. ४।

के लिए की गई। यह स्पष्ट है कि वेद-कालीन समाज में युद्ध-संबंधी कार्यों का प्रमुख स्थान है। आर्यों में युद्ध-कला बहुत विकसित थी। धनुष और बाण उनके मुख्य आयुध थे। बाण काष्ठ-खण्डों के बनाये जाते थे जिनके शिरोभाग में लोहे की नोक होती थी और जिनमें पखनों के पुंख लगे होते थे। ऐसा मालूम होता है कि बाणों का बनाना एक सुव्यवस्थित और लाभप्रद व्यवसाय था। "लौहकार शुष्क काष्ठ और पक्षियों के परों से और नोकों के लिए चमकदार पत्थरों की सहायता से, बाणों को बनाकर किसी धनी खरीदार की खोज करता है[१]।" ऋग्वेद में तलवार का भी उल्लेख है। छठे मंडल के ७५वें सूक्त में एक सैनिक के ठाट-बाट का पूरा वर्णन है। उसमें धनुष और कंधे पर लटकनेवाले तरकस का उल्लेख है। सैनिक के पास अंगरक्षक कवच भी होता था जिसे 'वर्म' कहते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि वह चमड़े का होता था या किसी धातु का, पर वह शरीर का अधिक भाग ढँक लेता था; और उसके विषय में यह कहा गया है कि वह युद्ध के अवसर पर पहना जाता था। राजा तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग सारथी द्वारा हाँके गये घोड़ों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर युद्ध करते थे। उच्च श्रेणी के लोगों की सवारी रथ थी। इसका उल्लेख ऋग्वेद में अधिक-तर हुआ है। रथ बनाने के व्यवसाय में कारीगरी और साहस अपेक्षित था। बाण भी—कभी-कभी तो अवश्य ही—विषाक्त होते थे। "हम 'इषुदेवी' को नमस्कार करते हैं जो

---

१. ऋ. वे. ६. ११२. २।

विषदिग्धा और अयोमुखी हैं[१]।" लड़ाई में घोड़ों का प्रयोग आम तौर पर होता था। "हमारे नेता घोड़ों पर चढ़कर कूच कर रहे हैं। हे इन्द्र! हमारे सारथी विजयी हों[२]।" द्रुतगामी और कठिन अभियानों के लिए घोड़ों को काम में लाया जाता था। "महायुद्धों के अवसर पर आप हमारे घोड़ों को विषम मार्गों पर भेजें जैसे कि द्रुतगामी श्येन आमिष की खोज में कठिन स्थलों में जाते हैं[३]।" युद्ध के लिए घोड़ों को शिक्षित किया जाता था। "जो सुशिक्षित घोड़ों की तरह कदम मिलाकर कूच करते हैं[४]" यह भी निश्चित है कि सेना को रसद पहुँचाने का किसी न किसी प्रकार का आयोजन था। युद्ध-क्षेत्र में घोड़ों को चारा दिया जाता था[५]। "जिस प्रकार लड़ाई के मैदान में घोड़ों को घास बाँटी जाती है उसी प्रकार जीते गये शत्रुओं की सम्पत्ति आप विजेताओं को बाँटें।" किलों के चारों ओर घेरे डाले जाते थे। किसी न किसी प्रकार की किलेबन्दी भी लोगों को मालूम थी।

अनेक स्थलों पर दुर्गों का उल्लेख मिलता है। यह एक बड़ी सारगर्भित बात है कि जिस प्रकार के सेना-सम्बन्धी मुक्तहस्त धनोत्सर्ग का वर्णन पुराणों में अधिकतर मिलता है उस प्रकार का ऋग्वेद में बिलकुल नहीं है। वैदिक काल में युद्ध-व्यापार जीवन की एक यथार्थता थी, न कि काल्पनिक कथा।

---

१. ऋ. वे. ६. ७५. १५; २. ऋ. वे. ६. ४७. ३१;
३. ऋ. वे. ६. ४६. १३; ४. ऋ. वे. १०. ६४. ६;
५. ऋ. . ६. ४७. ५।

वैदिक सूक्तों के रचयिताओं के मुख्य शत्रु इसी भूमि के मूलनिवासी थे, परन्तु वैदिक काल की समाप्ति के पहले ही आर्य लोग आपस में ही लड़ने लग गये थे। ऋग्वेद के दशम मंडल में हमें आर्यों के पारस्परिक युद्ध के अनेक उल्लेख मिलते हैं। "हमारे साथ युद्ध की चाहे जो इच्छा करे—वह आर्य हो चाहे दास हो[1]।" "हे इन्द्र! हमें मारने की इच्छा करनेवाले शत्रुओं पर आप वज्र-प्रहार करें। आप उन्हें गुप्त रूप से नष्ट करें, वे चाहे दास हों या आर्य[2]।"

यद्यपि परिस्थितियों ने आर्य लोगों को अक्सर हथियार उठाने को और युद्ध-कला भली भाँति सीखने को बाध्य किया था, तथापि मुख्य रूप से ये लोग कृषक ही थे। उनका मुख्य धन पशु ही था। सूक्तों में पशुओं की वृद्धि के लिए अक्सर प्रार्थनाएँ हैं। इसके और पहले आर्य लोग प्रधानतया चरवाहे थे। जो अपने पशुओं के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। आर्यों के बहुत प्राचीन देवताओं में पूषा देवता पशुओं के संरक्षक और यात्रियों के पथ-प्रदर्शक थे। परन्तु जिस समय ऋग्वेद के सूक्तों की रचना की गई थी, उस समय लोग खेती के काम में लग चुके थे। वर्षा के लिए बारंबार की गई प्रार्थनाएँ यही सूचित करती हैं कि वैदिक सूक्तों का गान करनेवालों का मुख्य उद्यम कृषि था। उस समय की मुख्य उपज 'यव' मालूम होती है। ऋग्वेद में उसे 'धान्य' कहा गया है जिसे कि लौकिक संस्कृत में चावल का नाम दिया गया है। परन्तु सायण तथा अन्य टीकाकारों ने उसे 'यव' ही माना है।

---

१. ऋ. वे. १०. ३८. ३; २. ऋ. वे. १०. १०२. ३।

वेदकालीन लोगों में खेती का काम बहुत उन्नत था। वे भूमि जोतते थे। खेतों में खाद डालने का वर्णन यद्यपि नहीं मिलता है, परन्तु सिंचाई के मौलिक तरीके अज्ञात नहीं थे। दशम मंडल के ६८वें सूक्त की आरंभिक ऋचा में अन्न के खेतों को सींचने का उल्लेख हुआ है। "जिस प्रकार क्षेत्रपाल खेतों को सींचते समय चिड़ियों को भगाने के लिए शोर करता है।" दशम मंडल के १०१ सूक्त की निम्नलिखित ऋचाओं में वेद-कालीन कृषक-जीवन का स्पष्ट चित्रण मिलता है—

"हलों को एक साथ रखो। इस तैयार की हुई भूमि पर बीज बो दो। हमारी प्रार्थना पैदावार से भरीपुरी हो। आस-पास की तैयार उपज पर 'सृणि' का प्रयोग हो।"

"हलों को क्रम से रखा जा रहा है। श्रमिक लोग बैलों के जुए को लिये जा रहे हैं। विज्ञ देवताओं की प्रार्थना कर रहे हैं। पशुओं के पानी पीने के लिए प्याऊ तैयार करो। चर्मरज्जुओं को बाँधो। कभी न खाली होनेवाले इस सुन्दर गढ़े से हम पानी निकालें।"

"पशुओं के लिए नाँदें तैयार की गई हैं इस सस्रोत अक्षय कूप में चमड़े की रस्सी बाँध दी गई है, अब उसमें से सरलता से जल निकाला जा सकता है। हम लोग अब जल निकालें।"

"अश्वों को सन्तुष्ट करो। खेतों से घास के गट्ठों को एकत्र करो। रथों को तैयार करो जो सकुशल शस्यसंचय को ले जायँ। पशुओं के लिए यह प्रपा लगभग द्रोण परिमाण होगी। पत्थर का एक चक्र उसमें लगा है। मनुष्यों के पानी पीने-वाली प्रपा लगभग एक 'स्कन्द' होगी। उसे जल से भर दो।

खेती के लिए एक शाला तैयार करो । मनुष्यों के लिए पेय जल का यहाँ प्राचुर्य है । लोहे के दृढ़पात्रों को निकाल लो । चमड़े के थैलों को मजबूत बनाओ ताकि उनसे जल न गिरे ।"

खेती के काम में गाय और घोड़े, दोनों लाये जाते थे । इनके अलावा भैंसों, भेड़ों और बकरियों का भी उल्लेख पालतू पशुओं में हुआ है । वैदिक काल में हाथियों का पालना भी ज्ञात था । दशम मंडल के १०६वें सूक्त की छठी ऋचा में "सृणि द्वारा संचालित हाथी का उल्लेख है । ऊँट बोझा ढोनेवाला एक साधारण और उपयोगी पशु अवश्य रहा होगा । चेदिवंश के कशु नाम के राजा ने १०० ऊँट और दस हजार गौ दान में दिया[१] ।" इसके बादवाले सूक्त की अन्तिम ऋचा में ऊँटों के दान का भी वर्णन है ।

दुग्ध और उससे बने पदार्थ, मक्खन और दही, भोजन की दैनिक सामग्री थी । गो-मांस का प्रयोग भी यज्ञों में तथा भोजन में होता था । "इन्द्र तेरे वृषभों का भक्षण करें[२] ।" "मेरे लिए १५ या २० बैल पकाये गये हैं । मैं उनके भक्षण से मोटा हो रहा हूँ, मेरे पेट के दोनों ओर भर गये हैं । इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हैं[३] ।" महिष-मांस भी भोजन का प्रचलित पदार्थ अवश्य रहा होगा । "हे इन्द्र ! आपके लिए १०० महिष पकाये जायँ[४] ।" "हे इन्द्र !

---

१. ऋ. वे. ८. ५. ३७ ; २. ऋ. वे. १०. ८६. १३ ; ३. ऋ. वे. १०. ८६. १४ ; ४. ऋ. वे. ६. १७. ११ ।

जब आपने ३०० महिषों का मांस खाया, जब आपने ३ द्रोणी सोम का पान किया[१]।" शूकर के मांस का भी इस समय तक निषेध नहीं हुआ था। "इन्द्र ने १०० महिष, खीर और एक शूकर दिया[२]।"

देवताओं और मनुष्यों का प्रिय पेय पदार्थ सोम था। सोम के स्तवन में एक पूरा मंडल रचा गया है। इसके अतिरिक्त अन्य मंडलों के अनेक सूक्तों में सोम का उल्लेख हुआ है। आर्य लोग सोमपान को बहुत अधिक पसन्द करते थे जो कि अवश्य ही मादक रहा होगा। "यह (अर्थात् सोम) सब पदार्थों से अधिक मधुर, शीतल, कुछ-कुछ लालवर्ण का और आनन्द का आगार है जिसे कि देवताओं ने पीने के लिए बनाया है[३]।"

"यह (सोम) सुस्वादु, मधुर, बलकारक और शीतल है। जब इन्द्र इसका पान कर लेते हैं, तो युद्ध में उनका सामना कोई नहीं कर सकता[४]।"

सोम, साधारणतया यज्ञ में देवताओं को समर्पित करने के बाद, पिया जाता था। पर—जैसा कि स्वाभाविक था—इस बात की पाबन्दी कठोरतापूर्वक नहीं की जाती थी। कुछ न्यून धार्मिक वृत्तिवाले लोग विना किसी धार्मिक कृत्य के उसे पी लेते थे। कभी-कभी तो धर्म-शिक्षक तक अधिक मात्रा में उसे पीकर नशे की हालत में हो गये थे।

"विश्ववार, यजत और मायी, इन तीन ऋषियों की मत्तता

१. ऋ. वे. ५. २९. ८; २. ऋ. वे. ८. ७७. १०; ३. ऋ. वे. ६. ७८. ४; ४. ऋ. वे. ६. ४७. १।

श्येन पक्षी के समान तीव्र है और अदिति के समान व्यापक है। ये पानगोष्ठी में एक दूसरे के साहचर्य की अपेक्षा करते हैं, और अधिक मात्रा में पान करके मत्त हो जाते हैं[१]।"

सोम के अतिरिक्त अन्य मादक पेय भी प्रचलित थे, परन्तु कट्टरपंथियों में वे पेय नीची निगाह से देखे जाते थे।

"जिस प्रकार सुरा का निकृष्ट मद हृदय में युद्ध करता है, उसी प्रकार सोम पिये जाने पर हृदय में युद्ध करता है[२]।"

पोशाक के लिए आर्य लोग कपड़े का प्रयोग करते थे। संभवतः वैदिक काल के बहुत पहले कपड़ा बीनने का काम लोगों को मालूम था। ऋग्वेद में कपड़ा बीनने के अनेक उल्लेख हैं। "आप दोनों (अश्विन्) हमारी भेंट की उसी प्रकार इच्छा करते हैं जिस प्रकार कि तन्तुवाय कपड़े बीनता है; आप हमारे स्तवन का विस्तार करते हैं[३]।" कपड़े मुख्यतया भेड़ और बकरी के ऊन के बनते थे। "वह (पूषा) ऊन के वस्त्र बीनता है और वह कपड़े को धोता है।" वैदिक काल में रेशम या रुई के प्रयोग का कोई आधार ऋग्वेद में नहीं मिलता।

शरीर को विभूषित करने के लिए अलंकारों का प्रयोग लोगों को ज्ञात था। स्त्रियाँ आभूषणों से—संभवतः सोने के आभूषणों से—अपने शरीर को आम तौर पर अलंकृत करती थीं। "जिस प्रकार नव-विवाहिता वधू पिता द्वारा दिये गये आभूषणों से सजी हुई अपने पति के यहाँ जाती है।"

१. ऋ. वे. ५. १४. ११; २. ऋ. वे. ८. २. १२; ३. ऋ. वे. १०. १०६. १।

धातुओं को गलाने की विद्या भी जानी जा चुकी थी। ऐसा लगता है कि लोगों का एक वर्ग बन चुका था जो स्वर्ण-कारी करता था। "जैसे कि स्वर्णकार (धातुओं को) टिघ-लाता है, वैसे ही लकड़ी को जलाती हुई अग्नि परशु की नाईं अपनी जिह्वा निकालती है[1]।"

धातुओं में से, सोने और लोहे का जिक्र ऋग्वेद में बहुत बार आया है। ऐसा मालूम होता है कि आभूषण के लिए प्रयुक्त होने के अतिरिक्त, सोने का प्रयोग सिक्कों के लिए भी होता था। स्वर्ण-खंडों को दान में देने का प्रायः उल्लेख हुआ है। कभी-कभी इन सोने के सिक्कों को खास तौर पर 'निष्क' कहा गया है, जैसा कि अब भी रायज है। इनका इस्तेमाल अक्सर लड़ी में पुहकर माला के रूप में होता था। "जीवित पुरुष, स्तुतिगान में सिद्धहस्त, कंठों में निष्क धारण किये हुए और भोजन के इच्छुक अपनी स्तुति से द्यु-लोक की अग्नि की शक्ति को बढ़ाते हैं[2]।"

लोहे का मुख्य उपयोग शस्त्र और खेती के औजार बनाने में होता था। तीर का शिरोभाग लोहे का होता था। तलवारें भी लोहे की बनती थीं। "लोहे की तलवार की भाँति हमारी बुद्धि को तीक्ष्ण करिए[3]।" ऋग्वेद में लौह-पात्रों का भी वर्णन है।

"दृढ़तर लौह-पात्रों को निकाल लो[4]।" ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर लौह-पुरों का भी वर्णन है। "आयस-पुरों द्वारा

---

१. ऋ. वे. ६. ३. ४; २. ऋ. वे. ५. १६. ३; ३. ऋ. वे. ६. ४७. १०; ४. ऋ. वे. १०. १०१. ८।

हमारी रक्षा करिए[1] ।" आप अनाधृष्ट हैं । हमारे पुरुषों की रक्षा के लिए आप शतभुजी आयस-पुर के समान हो जायँ[2] ।" इस प्रकार के उद्धरणों से यह सूचित होता है कि पुरों की किलाबन्दी के लिए संभवतः लोहे की दीवालों का प्रयोग होता था ।

बढ़ईगीरी की कला का विकास बहुत बड़ी सीमा तक हो चुका था । हलों का सुचारु रूप से हलों के तथा खेती के अन्य उपकरणों के बनाने के लिए बढ़ई की बड़ी अपेक्षा होती थी । ऐसा अनुमान होता है कि रथों के बनाने का व्यवसाय एक सफल उद्यम था । इसका उल्लेख एक ऐसे व्यवसाय के रूप में हुआ है जिसमें कि बुद्धि एवं दक्षता की अपेक्षा थी । "जिस प्रकार एक कुशल और धैर्यशाली व्यक्ति रथ का निर्माण करता है[3] ।" "जब कि कारीगर रथों को बना रहा है, हम लोग ये विस्तृत प्रार्थनाएँ गा रहे हैं[4] ।"

जिन कलाकौशल और उद्योगों का जिक्र किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त नाव खेने का भी उल्लेख है । ऐसा मालूम होता है कि नौ-चालन में बहुत उन्नति हो चुकी थी । वैदिक काल के आर्य न केवल नदियों में ही अपनी नावें चलाते थे, पर संभवतः समुद्र में भी उतरे थे । "जब वरुण और मैं नाव में प्रविष्ट हुए और उसे समुद्र के मध्य में ले गये[5] ।" "उषा प्राचीन काल में थी और अब भी उषा प्रातः-काल का प्रादुर्भाव करती है । जो रथ उसके आगमन पर

---

१. ऋ. वे. ७. ३. ७ ; २. ७. १५. १४ ; ३. ऋ. वे. ५. २. ११ ; ४. ऋ. वे. ५. ७३. १० ; ५. ऋ. वे. ७. ८८. ३ ।

तैयार किये गये थे वह उन्हें रवाना कर देती है, जिस प्रकार कि धनेच्छुक लोग समुद्र में नावों को भेज देते हैं[१] ।" जैसे धन के लिए समुत्सुक वणिज चारों ओर विचरण करते हुए समुद्र पर फैल जाते हैं, इसी प्रकार भेंट लिये हुए पुरोहित इन्द्र के चारों ओर इकट्ठा होते हैं[२] ।"

इस प्रकार के उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में वाणिज्य-संबंधी उद्योग बहुत उन्नत था । एक वर्ग तो उत्पादित पदार्थों के विनिमय में लगा हुआ था और उसका कार्यक्षेत्र स्वदेश में ही सीमित न था, परन्तु समुद्र के पार भी फैला था । वणिजों का उल्लेख एक वर्ग-विशेष के रूप में हुआ है, "हे अग्नि ! हमें गायों और घोड़ों के रूप में प्रचुर धन दीजिए। आकाश को मेघों से आच्छादित कीजिए। वणिजों के व्यवसाय का विस्तार कीजिए[३] ।"

इस समय संभवतः कुसीदकों का एक वर्ग बन चुका था जो लालच और कठोरता के लिए कुख्यात थे। "दिवस-गणना करनेवाले कुसीदकों को इन्द्र पराभूत करते हैं[४] ।"

वैदिक समाज में एक नियमित राजतंत्र शासन सुव्यवस्थित हो चुका था। राजा की अधीनता में प्रजा शान्ति-पूर्वक रहती थी और राजाज्ञा के उल्लंघन का कोई प्रश्न ही न था। सारे सामाजिक संगठन की आधार-भूमिका ही राज-सत्ता को पहले से ही स्वीकार करके प्रवर्तित हुई थी। यह राजपद स्पष्ट रूप से कुलक्रमागत था। राजाओं और उनके वंशजों द्वारा

---

१. ऋ. वे. १. ४८. ३; २. ऋ. वे. १. ५६. २; ३. ऋ. वे. १०. १५६. ३; ४. ऋ. वे. ८. ६६. १०।

उत्तराधिकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में अनेक राजाओं का नामोल्लेख भी है। इनमें दिवोदास और सुदास बहुत प्रसिद्ध मालूम होते हैं। उनके नाम अनेक स्थलों पर आये हैं। राजपद अभी सवेतन, पर कर्मशून्य नहीं हो पाया था। राजा को युद्ध का भार उठाना पड़ता था। उसकी राज-सभा भी थी, जो प्रायः बड़े ठाट-बाट से होती थी। "हे अग्नि! व्याध के विस्तीर्ण जाल के समान अपने ऐश्वर्य का विस्तार करिए। जैसे राजा अपने सभासदों के साथ हाथी पर सवार होकर चलता है, वैसे ही आप अभियान करें[1]।"

यज्ञ-कार्य में बहुत से व्यक्ति लगे थे। सूक्तों की रचना करना कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति का ही काम था; क्योंकि प्रत्येक पुरुष ऋचाओं का संगायन नहीं कर सकता था। कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता। तब भी वर्त्तमान सूक्तों की संख्या—जो कि उस काल के समग्र काव्य-साहित्य का अवश्य ही एक स्वल्प अंश है—यही सिद्ध करती है कि उस समय अनेक कवि एवं ऋषि थे।

काव्य-रचना की प्रतिभा पुरुषों में ही सीमित न थी। वैदिक ऋषियों में कई स्त्रियाँ भी थीं, जिनके नाम अब तक चले आ रहे हैं। ऐसा मालूम होता है कि इन महिलाओं में घोषा ने बहुत ख्याति प्राप्त की थी। ऋग्वेद के दो सूक्त—अर्थात् दशम मंडल का ३९वाँ और ४०वाँ सूक्त—उन्हीं के द्वारा रचे माने जाते हैं। आठवें मण्डल का ९१वाँ सूक्त अपाला आत्रेयी द्वारा रचित है। इसी प्रकार पाँचवें मंडल का २८वाँ

---

१. ऋ. वे. ४. ४. १।

सूक्त एक विश्ववारा नाम की महिला ऋषि द्वारा प्रणीत है। इन्होंने तो संभवतः यज्ञों में भी भाग लिया था। "प्रज्वलित अग्नि आकाश में अपनी दीप्ति का विस्तार कर रहा है, और उषा के पहले प्रकाशित है; हाथ में हवनीय पदार्थों का पात्र लिये और पूर्व दिशा की ओर मुख किये देवताओं का स्तवन करती हुई, विश्ववारा अग्नि की ओर संचरण कर रहा है।" सूक्तों के यथार्थ रचयिताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे, जो उन्हें कंठस्थ करते और अपने पुत्रों या शिष्यों को सिखाते थे। वे शिष्य फिर अन्य लोगों को उनकी शिक्षा देते और इस परम्परा से जातीय विद्या को सुरक्षित रखते थे। "वे ऋत्विज्, जो यज्ञ में अनेक कार्यों का सम्पादन करते हैं तथा वे जो प्रार्थनाओं को सीख लेने के पश्चात् उन्हें सुरक्षित रखते हैं[१]।"

इसके अतिरिक्त अधिक संख्या उन पुरोहितों की थी, जिनके लिए दैनिक अग्निहोत्र करना अपेक्षित था। आरम्भ में तो यज्ञ एक साधारण कृत्य रहा होगा। प्रत्येक गृहस्थ, जो अग्नि प्रज्वलित करता था अथवा उसे सुरक्षित रखता था, देवताओं की स्तुति में कुछ मंत्र पढ़ता था और सोमाहुति देता था। धीरे-धीरे यह कार्य जटिल होता गया। इसके निमित्त पुरोहित विशेष रूप से शिक्षित किये जाने लगे, जो कम से कम विशेष अवसरों पर तो अवश्य ही नियुक्त किये जाते थे। पहले-पहल ये पुरोहित थोड़ी ही संख्या में थे, और इनमें से प्रत्येक यज्ञ-संबंधी समग्र कार्य कर लेता था। परन्तु

---

१. ऋ. वे. ४. १८ १।

कालान्तर में जैसे-जैसे यज्ञों में संकीर्णता बढ़ती गई, भिन्न-भिन्न पुरोहितों को भिन्न-भिन्न कार्य सौंप दिये गये। इस प्रकार पुरोहितों के अनेक वर्ग स्थापित हो गये। ऋग्वेद में ऋत्विजों की कार्य-प्रणाली में क्रमशः बढ़नेवाली इस संकीर्णता के लक्षण स्पष्ट रूप से मिलते हैं। प्राचीन सूक्तों में इन याजकों का थोड़ा सा उल्लेख है और जहाँ कहीं है, वहाँ उन्हें ऋत्विक् कहा गया है।

परन्तु बाद के सूक्तों में तो ऋत्विजों का व्यूह-सा है। यज्ञ-संबंधी भिन्न-भिन्न कृत्य भिन्न-भिन्न वर्ग के ऋत्विजों में विभाजित कर दिये गये हैं, और उनके पृथक्-पृथक् नाम रख दिये गये हैं। तीसरे मण्डल में, अध्वर्यु और होता या विप्र, इन दो प्रकार के ऋत्विजों का उल्लेख है। "अध्वर्यु नाम के पाँच ऋत्विजों के साथ सात विप्र आपके प्रिय स्थान का निरीक्षण कर रहे हैं[१]।"

इनमें से विप्र या होता तो देवताओं की स्तुतियों को पढ़ता या उनका गान करता था, और अध्वर्यु यज्ञ-संबंधी विभिन्न कार्य करता—जैसे यज्ञवेदी का निर्माण, हव्य तैयार करना इत्यादि। "हे इन्द्र! आप अध्वर्यु के द्वारा अर्पित सोम को स्वीकार करें या होता के द्वारा दिये हुए हव्य को ग्रहण करें[२]।"

दूसरे मण्डल में ऋत्विजों की संख्या बहुत बढ़ गई। होता और अध्वर्यु के अतिरिक्त अन्य अनेक ऋत्विजों का प्रायः उल्लेख मिलता है। "हे अग्नि! हमारे गृह में आपका स्थान होता का है, पोता का है, नेष्टा का कार्य भी है, आप

---

१. ऋ. वे. ३. ७. ७; २. ऋ. वे. ३. ३१. १०।

अग्निहंता भी हैं; आप जब यज्ञ की इच्छा करते हैं, तब प्रशास्ता का कार्य करते हैं। आप अध्वर्यु हैं, आप ब्रह्मा हैं, और आप गृहपति हैं[१]।"

दशम मण्डल में अधिक आवश्यक ऋत्विजों के कार्यों का विवरण है। "होता अनेक मन्त्रों को पढ़कर अपना सहयोग देता है। उद्गाता गायत्री छन्द में सामन् गाता है। ब्रह्मा जातविद्या को समझाता है और अध्वर्यु पुनः-पुनः यज्ञ संबंधी कार्यों को क्रमशः करता है[२]।"

वैदिक काल में यद्यपि अनेक पेशे और उद्योग-धंधे थे और वे यथेष्ट उन्नति कर चुके थे, तब भी उस समय तक वे कुल-क्रमागत जाति के बंधनों से नहीं बँधे थे। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि ऋग्वेद के सूक्तों के रचनाकाल में आर्यों में जाति-भेद न था। जिन चार जातियों ने आगे चलकर हिन्दूसमाज को स्पष्ट रूप से विभाजित किया और जो उस समाज की मूलभित्ति बनीं, उनके नाम भी वर्त्तमान अर्थ में वेदों में नहीं पाये जाते। इसका अपवाद केवल एक विशेष स्थल है। ऋग्वेद के काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्द अज्ञात थे। ऋग्वेद में कुछ स्थलों पर ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्द पाये तो जाते हैं, पर वहाँ वे स्पष्ट रूप से जाति के वाचक नहीं हैं। ब्राह्मण का अर्थ है देवताओं की स्तुतियों का गान करनेवाला। (ऐ मेढको) जो अतिरात्र यज्ञ में स्तुतिगायकों के समान बोलते हुए तड़ाग की ओर बढ़ रहे

---

१. ऋ. वे. २. १. २; २. ऋ. वे. १०. ७१. ११।

हैं[1]। इसी प्रकार 'विप्र' शब्द भी, जो आधुनिक काल में ब्राह्मण जाति का अर्थ देता है, ऋग्वेद में केवल बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह क्षत्रिय शब्द भी ऋग्वेद में वीर या बलशाली का अर्थ देता है और निर्विशेष रूप से देवताओं या मनुष्यों का बोधक है।

ये शब्द कुछ गुणों के सूचक थे। इनका संबंध किसी वंश में उत्पन्न होने से या किसी कुल-परम्परा से न था। वैदिक समाज में, किसी जाति या कुलविशेष में पैदा होने के आधार पर, कार्य-विभाजन न था। पुरुष और स्त्रियाँ अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न पेशों और उद्योग-धंधों में लगे हुए थे। अनेक प्रकार के शारीरिक परिश्रमवाले और ओछे काम, जो आगे चलकर विजित और अधीन मूलनिवासियों के माथे मढ़े गये, इस समय तक आर्यों द्वारा किये जाते थे। इस प्रकार आर्य लोग बढ़ई, लोहार, जुलाहे, नाविक, खेतिहर और पशुपालक थे। यह तो पिछले काल में—जब कि आर्यों ने विजित मूलनिवासियों के रूप में एक उपयुक्त साधना पा लिया—हुआ कि उन्होंने शारीरिक परिश्रमवाले कार्यों के वे अंश, जिनमें अधिक बुद्धि अपेक्षित न थी, उन लोगों के माथे मढ़े और स्वयं बौद्धिक कार्यों की ओर प्रवृत्त हुए या आराम-तलबी करने लगे। वैदिक काल में तो आर्य लोगों को सभी तरह के श्रम-सम्बन्धी कार्य—बिना किसी अपमान या अप्रतिष्ठा की भावना के—करते हुए हम पाते हैं। "हमारे बीच में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न उद्यम हैं।

---

१. ऋ. वे. ७. १०३. ७।

बढ़ई लकड़ी चीरता है, चिकित्सक रोगियों की देखभाल करता है, ऋत्विक् यजमानों की खोज करता है। अतः (हे सोम) आप इन्द्र के लिए अभिस्नुत हों[१]।" यह कोई जरूरी बात न थी कि पुत्र अपने पिता का ही पेशा अपनाये। हम एक ऋत्विक् को वीर पुत्र की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते पाते हैं। इसी तरह कुछ राजपुत्र ऋत्विक् और गवैये बन गये थे। प्रसिद्ध सम्राट् परुचेपद (?) का पुत्र या वंशज एक ऋषि और अनेक सूक्तों का रचयिता था। एक ही वंश के भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न पेशेवाले थे। नवें मंडल के ११२वें सूक्त का रचयिता स्पष्ट कहता है कि उसके वंश के लोग भिन्न-भिन्न काम करते थे। "मैं सूक्तों का रचयिता हूँ। मेरा पुत्र भिषग् है। मेरी माता चक्की पीसनेवाली है। हम अनेक व्यवसाय करनेवाले हैं[२]।"

---

१. ऋ. वे. ६. ११२. १ ; २. ऋ. वे. ६. ११२. ३ ।

अध्याय ३

वैदिक काल की धार्मिक भावनाएँ

"समग्र ज्ञान प्रेम है और समग्र प्रेम ज्ञान है। नीच से नीच व्यक्ति के सम्बन्ध में हम उसके अंतस्तल में होनेवाले संघर्षों की झलक नहीं पा सकते विना उसके प्रति सहानुभूति और अनुराग बढ़ाये।"

वैदिक काल में धार्मिक भावनाओं के प्रति दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि आर्य विशेष-विशेष देवताओं की उपासना करते थे, जिन्हें वे 'देव' कहते थे, जिसका अर्थ सम्भवतः "द्योतनशील" था। ऋग्वेद के सूक्त अधिकतर इन्हीं देवों के लिए रचे गये हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर इनकी संख्या निश्चित रूप से ३३ बताई गई है। "हे देवो! शत्रुओं के नाशक और यज्ञार्ह! मनुपुत्रो! आपकी संख्या ३३ है और इसी के अनुसार आपकी स्तुति की गई है[१]।" "हे देवो! आप संख्या में ३३ हैं[२]।" "हे नासत्या अश्विन्! आप

---

१. ऋ. वे. ८.३०.२; २. ऋ. वे. १.३४.११।

३३ देवताओं के साथ मधुर (सोम) पीने आवें ।" "हे प्रवहणशील सोम ! आपसे सम्बद्ध ३३ देवता नेत्रों के अगोचर स्थान में निवास करते हैं[1] ।" "हे अग्नि ! जिनके अश्व लाल हैं और जो प्रशंसा के योग्य हैं, आप ३३ देवताओं को यहाँ लावें[2] ।"

इस प्रकार के उद्धरणों द्वारा इस बात का स्वल्पमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि बहुत समय तक आर्यों ने देवताओं की संख्या को ३३ माना। ऋग्वेद में विशेष नामों द्वारा निर्दिष्ट देवताओं की संख्या ठीक-ठीक नहीं निर्धारित की जा सकती; क्योंकि कभी-कभी यह सन्देह होने लगता है कि कोई विशेष नाम किसी भिन्न देवता का वाचक है, अथवा पूर्व निर्दिष्ट देवता का पर्यायवाचक है। इस प्रकार यह सन्देहास्पद है कि सविता किसी एक देवता-विशेष का नाम है या सूर्य का ही दूसरा नाम है। या विश्वेदेव नाम का एक भिन्न देवता है या यह शब्द समग्र देव-समुदाय का वाचक है। ऋग्वेद में आये हुए मुख्य देवताओं के नाम ये हैं—इन्द्र, अग्नि, सोम, वायु, सूर्य, मित्र, वरुण, विष्णु, उषा, युग्मदेवता अश्विन्, पूषा, रुद्र, प्रजापति, यम, पर्जन्य, अर्यमा, मरुद्गण, ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति, सरस्वती, अदिति, आदित्य, ऋभु, इला, त्वष्टा, सविता, इन्द्राणी, वरुणानी, आग्नेयी, वसु, मातरिश्वा, वैश्वानर और भारती।

वैदिक देवताओं की संख्या की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण उनका स्वरूप-स्वभाव आदि है। सौभाग्य से इस प्रश्न का

---

१. ऋ. वे. ९. ९२. ४ ;   २. ऋ. वे. १. ४५. २ ।

समाधान कठिन नहीं। ऋग्वेद के देवता यदि समग्र नहीं तो अधिकतर निसर्ग की शक्तियों के ही मूर्तरूप हैं। प्रारंभिक काल में चारों ओर विस्तृत संसार के रहस्य ने आर्यों के मस्तिष्क को संक्षुब्ध किया था। प्रकृति के सौन्दर्य और ऐश्वर्य ने उनके अगाध औत्सुक्य एवं विस्मय को जाग्रत् किया था और द्यावा पृथिवी की चमत्कारपूर्ण घटनाओं में उन्होंने कुछ महान् शक्तियों के प्रादुर्भाव का निरीक्षण किया था। प्रातःकालीन आकाश के अरुण प्रकाश में नीले नभोमंडल के आरपार सूर्य की प्रतिदिन होनेवाली गति में, गर्जनयुक्त मेघों के यथाऋतु विस्फोटन में, जीवनदायक वर्षा के प्रपात में और उत्तर-भारत के वनों तथा छोटे-छोटे ग्रामों के ऊपर वेग से चलनेवाली आँधियों के प्रकोप में आर्यों के संवेदनशील मस्तिष्क की परिस्फुट कल्पना ने कतिपय रहस्यमयी अदृश्य शक्तियों को पहचाना। यह यथार्थतया सही दृष्टिपात था—ठीक-ठीक और पदार्थ-सत्ता के रहस्योद्घाटन की और मानव-मस्तिष्क का एक यथार्थ और अनागतदर्शी सहज ज्ञान था। मानवजाति के इतिहास के इस आदिमकाल में आर्यों के मस्तिष्क द्वारा नैसर्गिक घटनाओं का यथार्थ ज्ञान इतनी गहराई तक प्राप्त कर लेना वास्तव में आश्चर्यजनक है। निसर्ग का रहस्य समझनेवाली आर्यों की अन्तर्दृष्टि में सभ्यता की प्रगति से बहुत कम संवृद्धि हो पाई है। इन्द्रियों के माध्यम से, क्षणिक संस्पर्शवाले संसार के दैवी रहस्य का स्पष्टतर संदर्शन इससे अधिक हमें कहीं नहीं मिलता। आर्य-ऋषियों ने प्रातःकालीन सूर्य को आकाश में पूर्व की ओर से

निकलते देखा, और महान् आश्चर्य से आन्दोलित हो उठे। अपने बालोचित औत्सुक्य एवं समुत्साह और बुद्धि की कुशाग्रता के साथ उन्होंने प्रश्न किया कि यह रहस्यमय आगन्तुक कौन हो सकता है ? एवं जिस उत्तर की उन्हें स्वतः उद्भावना हुई, वह था—'यह एक देवता है'। अब इतनी शताब्दियों के बीत जाने के बाद भी इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि उन्होंने यथार्थ रूप में तथ्यों को सही-सही समझ लिया था। अंधकार के अंतस्तल से प्रकाश के इस रहस्यमय प्रादुर्भाव के दैनिक चमत्कार ने आर्यों को सतत आश्चर्य में डाल दिया और वे भयमिश्रित श्रद्धा और अर्चना के साथ प्रशंसात्मक और उपासनात्मक सूक्तों के उच्चारण के साथ-साथ सुषुप्त संसार में पुनः प्रकाश और सजीवता लानेवाली शक्ति के प्रति प्रणत हुए। इसी प्रकार उन्होंने मेघों के काले-काले समूहों की गति का आश्चर्य के साथ निरीक्षण किया—जिन मेघों के धारा-संपात ने पृथ्वी को उर्वरता प्रदान की, उसे हरीतिमा से आच्छादित किया और जीवन का पोषण किया। तब आर्यों ने कहा—'यह देवता है'—और बालोचित सरलता के अनुरूप यह अनुभव किया कि प्रार्थनाओं और भेंटों द्वारा देवता की आराधना आवश्यक है। इस प्रकार वैदिक देवसमुदाय और वैदिक उपासना का उद्भव हुआ। प्रकृति की प्रत्येक चमत्कारपूर्ण घटना में आर्य-मस्तिष्क ने एक-एक देवता के दर्शन किये, जिसे मनुष्य के शुभाशुभात्मक भाग्य के निर्धारण पर अपार सामर्थ्य थी और उनकी (आर्यों की) कृतज्ञता, भय और आशा की

भावना से—जो कि मनुष्य में सहज रूप से वर्तमान है—प्रशंसा, प्रार्थना और निर्वपन द्वारा उनके सन्तर्पण का एक विधान प्रस्तुत हुआ।

यह बात कि वैदिक देवता भी निसर्ग की किसी न किसी शक्ति के ही मूर्त्त रूप हैं, उन देवताओं के नाम से ही स्पष्ट हो जाती है। यह देवताओं का अभिधान किसी पदार्थ-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है और उसी से सम्बद्ध अदृष्ट शक्ति का भी साक्षात् द्योतक है। 'अग्नि' एक भौतिक तत्त्व और देवता-विशेष का नाम है, जिसकी उपासना आर्यों ने अदृश्य शक्ति के रूप में की। इसी प्रकार सूर्य, उषा और वायु वैदिक देवताओं के नाम हैं। साथ ही भौतिक पदार्थ या नैसर्गिक घटनाओं के भी वाचक हैं। केवल यही बात नहीं है कि देवता का नाम वही है, जो कि भौतिक तत्त्व का है, वरन् शुरू में उस देवता की परिभाषा एवं उसका विशद वर्णन, तथा बाद में उसका सविस्तर चित्रण तत्सम्बद्ध नैसर्गिक पदार्थों और घटनाओं की शक्तियों और कार्यों के रूप में किया गया है। उदाहरण के लिए उषा को ही ले लें। उषा शब्द संस्कृत में प्रातःकाल का वाचक है। उषा की कल्पना एक सुन्दरी देवी के रूप में की गई है, जो कि ठीक ही है। कभी वह सूर्य की पत्नी और कभी दुहिता भी है। उषा प्रायः प्रकाश करनेवाली दिन की अग्रदूती कही गई है। उसके सामीप्य में मनुष्य और पक्षी जाग जाते हैं। उसके आगमन पर यज्ञीय अग्नि प्रज्वलित की जाती है। "यहाँ उषाएँ हैं, जो प्रातःकाल उत्पन्न करती हैं, और पूर्व दिशा में

दिखनेवाले प्रकाश को देती हैं[१] ।" "हे उषा ! आज आपने अपने प्रकाश से स्वर्ग के द्वारों को खोल दिया है[२] ।" "हे उषा ! जब आप दृष्टिगोचर होती हैं, तब पक्षी अपने नीड़ से बाहर निकल आते हैं और वे मनुष्य भी, जिनका कि यज्ञोपहारों में कुछ भाग है, जाग जाते हैं[३] ।"

उषा के प्रति गाये गये सुन्दर सूक्तों में से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं। "हम प्रकाशमयी सुन्दरी उषा को जानते हैं, जो सुन्दर वाणी की अभिनेत्री हैं। हमारे लिए उन्होंने स्वर्ग-द्वारों का उद्घाटन कर दिया है; विश्व को प्रकाशपूर्ण करके हमें निधियों का सन्दर्शन कराया है। उषा ने विश्व को दृष्टिगोचर कराया है।" "उषा उन्हें जाग्रत् कर देती है, जो लोग अस्तव्यस्त पड़े थे—कुछ सुखोपभोग के लिए, कुछ यज्ञ के निमित्त तथा कुछ सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए। उषा देवी अन्धकार को दूर भगा देती हैं, ताकि जो लोग थोड़ा-बहुत भी देख सकते हैं, स्पष्ट रूप से देख सकें।" "स्थिर-यौवना कुमारी, उषा—स्वर्ग की दुहिता, श्वेत परिधाना—अन्धकार नष्ट करती हुई मनुष्यों के समक्ष प्रकट होती हैं। वे सम्पूर्ण धन की स्वामिनी हैं। हे ऐश्वर्यशालिनी देवि ! आज आप अन्धकार नष्ट कर दें।" "अपने समुज्ज्वल प्रकाश से उषा आकाश के विस्तृत छोरों को उद्भासित करती हैं। उषा ने नैश अन्धकार को दूर कर दिया है। प्रातःकालीन प्रकाशरूपी अश्वों से संयुक्त अपने रथ पर उषा आती हैं।" "हे मनुष्यो ! जागो। जीवन हमारा समुत्तेजक आ चुका है;

---

१. ७.७८.१; २. १.४८.१५; ३. ६.६४.६।

अन्धकार नष्ट है, प्रकाश आ गया है। उषा ने सूर्य के लिए मार्ग परिष्कृत कर दिया है। हम सब वहाँ चलें, जहाँ भोजन वितीर्ण करती हुई उषा अधिष्ठित हैं[1]।" "हे उषा! आप देवताओं की माता हैं, अदिति के समकक्ष; यज्ञों को प्रकट करनेवाली—आप अपने गौरव से भासमान हैं। हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार करती हुई आप हमें दृष्टिगत हों। हे सबके द्वारा अभिलषित! हमें इस भूमि पर बहुसख्यक बनाइए[2]।"

इससे भी स्पष्टतर रूप से, प्रथम मंडल के १२४वें सूक्त की आगे लिखी हुई ऋचाएँ, उषा के स्वरूप का वर्णन करती हैं। स्वर्ग की दुहिता उषा, प्रकाश-परिधाना, पूर्व दिशा की ओर धीरे-धीरे प्रकट हो रही हैं। वह सूर्य के निर्धारित मार्ग का अनुसरण करती है, मानो ऋतु को जानती हैं तथा दिशाओं की कोई हानि नहीं करतीं[3]।"

आकाश के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न होती हुई उषा, सभी दिशाओं को प्रबुद्ध कर देती हैं। अपने माता-पिता—पृथ्वी और आकाश—के अंक में बैठी हुई और उन्हें अपने प्रकाश से प्रपूरित करती हुई वह भली भाँति विशेष रूप से सुशोभित होती हैं[4]।" "युवती उषा पूर्व दिशा से आ रही हैं। उन्होंने अपने रथ में रक्ताभ अश्वों को नियुक्त किया है। दिवस के आगमन की उद्घोषणा करती हुई वे आकाश में अन्धकार को दूर भगा

१. १. ११३. ४, ५, ७, १४, १९ ; २. १. ११३. १९ ;
३. १. १२४. ३ ; ४. १. १२४. ५ ।

देती हैं। घर-घर में यज्ञीय अग्नि का आधान हो चुका है[१]।" इन ऋचाओं के बाद वह मंत्र आता है, जिसे हम छठे मंडल के ६४वें सूक्त में देख ही चुके हैं। "हे उषा! आप जब उदित होती हैं, तब पक्षी अपने आवासों से बाहर निकल आते हैं, तथा यज्ञ में भाग रखनेवाले मनुष्य भी जाग जाते हैं।" ऐसे-ऐसे उद्धरण—और इस प्रकार के उद्धरण भी अनेक हैं—इस बात में कुछ भी सन्देह बाकी नहीं रखते कि देवी उषा और प्रातःकाल में तादात्म्य है।

अब आइए, हम एक दूसरे सूक्त पर दृष्टिपात करें, जिसका देवता सोम है। सोम एक महत्त्वपूर्ण वैदिक देवता है। ऋग्वेद का एक पूरा मण्डल उसी देवता के प्रति रचा गया है। परन्तु इस मंडल के अधिकतर सूक्तों में इस देवता का भौतिक स्वरूप स्पष्ट झलकता है। यह तो भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि इन सूक्तों में एक अमूर्त देवता की अपेक्षा, मादक पेय पदार्थ सम्पन्न करनेवाली पर्वतीय ओषधि का ही ज्यादातर उल्लेख हुआ है। वैदिक देव-समुदाय में संभवतः सबसे अधिक सोम ने ही अपने प्राकृतिक रूप को अक्षुण्ण बनाये रखा है। सोम-सूक्तों में अधिकतर सूक्त, सोमाभिषव तथा उससे सर्वप्रिय पेय पदार्थ बनाने की प्रक्रिया का विशद वर्णन करते हैं। "यह सोम सबका निरीक्षण करता है। वह सुचतुर है, (लताओं से) निचोड़ा गया वह देवताओं के प्रति जाता है। वह (सोम) रससंग्रह करनेवाले पात्र (पवित्र) में जा रहा है[२]।" "इसके अतिरिक्त रक्तवर्णवाले आपको मैं सुस्वादु

१. १. १२४. ११; २. ६. ४४. ३।

एवं आह्लादक बनाने के लिए दुग्ध में मिलाता हूँ। आप हमारे लिए धन के द्वारों को उद्घाटित करें[1]।" ऐ ऋत्विजो! आप दृषद् से निर्पीड़ित इस सोम को 'पवित्रों' पर छिड़कें; इन्द्र के पीने के लिए इसे शुद्ध करें[2]। "यह सोम-रस उठ रहा है। वह जल्दी ही मादकता उत्पन्न करता है। वह इन्द्र का प्रिय पेय पदार्थ है[3]।" इसके साथ ही सोम का देवात्मक रूप भी निगाह से ओझल नहीं हुआ। वह केवल मादक पेय नहीं है, वह एक देवता भी है। दूसरे देवताओं के समान वह धन दे सकता है, शत्रुओं का संहार कर सकता है। उसने पृथिवी और आकाश भी उत्पन्न किया है। "विश्व का पर्यवेक्षण करते हुए वह राक्षसों का संहारक भी कहा गया है[4]।" "हे सोम! आप हमें प्रकाश, स्वर्ग और समग्र सौभाग्य प्रदान करें एवं हमारा कल्याण करें[5]।" "जो सोम को यज्ञोपहार अर्पण करता है, उसे सोम देवता गाय देते हैं, वेगवान् अश्व देते हैं, तथा गृहकार्य में दक्ष, यज्ञ करने को समुत्सुक और अपने पिता के ऐश्वर्य का विस्तार करनेवाले पुत्रों को देते हैं।" "हे सोम! हमें आपके स्मरण-चिन्तन से हर्ष होता है। आप युद्ध में अजेय हैं, शूरों में विजयी हैं, स्वर्ग को देनेवाले हैं, वर्षा के प्रदाता हैं, शक्ति के संरक्षक हैं, यज्ञों में निवास करनेवाले हैं। आपके पास सुन्दर प्रासाद हैं, और आप जयशाली और प्रख्यात हैं।" "हे सोम! आपने इन सभी वनस्पतियों को उत्पन्न किया है, आपने जल का सर्जन

१. ९. ४५. ३ ; २. ९. ५१. १ ; ३. १०. २५. १०
४. ९. १. २ ; ५. ९. ४. २ ।

किया है, आपने गौओं को उत्पन्न किया है, आपने विस्तृत आकाश को फैलाया है और अपने प्रकाश से उसके अन्धकार को दूर कर दिया है[1]।"

यहाँ हमें एक देवता के ऐश्वर्य से युक्त सोम का चित्र मिलता है। शुरू-शुरू में देवताओं का भौतिक रूप ही विशेष रूप से प्रधान है; पर समय बीतने और उपासनात्मक भावनाओं की वृद्धि होने पर, उसी देवता का काल्पनिक एवं आख्यानोचित रूप महत्त्वपूर्ण हो गया है। कभी-कभी तो ऐसा हुआ है कि भावनात्मक देवता का सम्बन्ध उसकी भौतिक भूमिका से नितान्त विशृंखलित हो गया है। इसी तरह दशम मंडल के ८५वें सूक्त की एक ऋचा में हम देवता सोम को वनस्पति सोम से बिलकुल असम्बद्ध पाते हैं।

"मनुष्य समझते हैं कि उन्होंने सोमाभिषव करने पर सोमपान कर लिया है। परन्तु जिस सोम को ऋषि जानते हैं, उसका पान कोई नहीं कर सकता[2]।"

इस स्थल पर सोम का भौतिक आधार एकदम समुल्लंघित है; परन्तु इसमें इसके पूर्व की गई कल्पना का स्पष्ट वैपरीत्य है। यहाँ आर्य-मस्तिष्क भावना-क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ा हुआ दिखता है। यह बात उल्लेख्य है कि ऋग्वेद के पिछले भागों—अर्थात् प्रथम और दशम मंडलों—में ही ऐसी ऋचाएँ आती हैं, जो यह सूचित करती हैं कि देवता के नैसर्गिक रूप की कल्पना से ही उसके भावनात्मक रूप का क्रमशः समुद्भव हुआ

---

१. १.९१.२०-२२; २. १०.८५.३।

है। यही विचारशैली, यदि सब वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में नहीं, तो अधिकांश के सम्बन्ध में अवश्य ही परिलक्षित होती है। प्रत्येक देवता के सम्बन्ध में इस प्रणाली का अनुसरण अपेक्षित नहीं है। ऊपर दिये गये उदाहरण वैदिक देवताओं की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। ऋग्वेद के अन्तर्गत अग्नि का वर्णन यह बात निर्धारित कर देता है। किसी-किसी दृष्टि से वैदिक देवताओं में अग्नि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि शक्ति और ऐश्वर्य में इन्द्र की अपेक्षा, अग्नि न्यून है, तथापि मनुष्य से अग्नि का सम्बन्ध विशेष सन्निकट एवं सुपरिचित है। वह देवता और मनुष्यों के मध्य में दूत है, जो मनुष्यों की भेंट देवताओं को पहुँचाता है और देवताओं के आशीर्वाद को मनुष्यों के प्रति। प्रत्येक मण्डल के आदिम सूक्त अग्नि के प्रति रचे गये हैं और इस प्रकार उसे इन्द्र से अधिक महत्त्व दिया गया है। अग्नि के इस महत्त्व का कारण उसका मनुष्य से निकट सम्बन्ध है। निसर्ग के रहस्यों में अग्नि ही मनुष्य के निकटतम है। आर्यों की कल्पनाशक्ति सूर्य के प्रकाश, गतिशील मेघ-समुदाय और प्रातःकालीन आकाश के सौन्दर्य से आन्दोलित हुई थी। पर उनके गृहोप-करणों के निकटतर यही रहस्यमयी सत्ता थी—अर्थात् अग्नि—दो अरणियों के संघर्षण से उत्पन्न होनेवाली, दिव्य-प्रकाश से दीप्तिमान्, सदा ऊर्ध्वगामी, प्रत्येक पदार्थ को जलानेवाली, उष्णता और प्रकाश देनेवाली, मनुष्य के लिए विशेष उपयोगी और उतनी ही भयंकर। यह तो यथार्थ में देवता ही है। अन्य देवता तो सुदूर द्युलोक में स्थित हैं; पर एक यही देवता

है जो उनके निवासस्थानों में रहता है, जिससे उनका नैरन्तरिक सम्पर्क हो सकता है, जिसे वे प्रज्वलित कर सकते हैं और उसका सान्निध्य यथेच्छ प्राप्त कर सकते हैं। अतः वे लोग उसे गृह-देवता कहते थे, जिसे कि देवताओं ने अपने दूत के रूप में मनुष्य के प्रति भेजा है। "हे अग्नि! आप हृदय को प्रफुल्लित करनेवाले हैं, आप देवताओं का आवाहन करनेवाले हैं। आप अपनी स्थली—अर्थात् अग्निकुण्ड—के स्वामी हैं और देवदूत हैं[1]।" "हे अग्नि! आप देवों के प्रिय दूत हैं, आहुतियों के संवाहक और यज्ञ के अधिष्ठाता हैं[2]।" यहाँ हम अग्नि को उसके याजकीय रूप में पाते हैं। पर यह अग्नि काष्ठ से उत्पन्न हुई। इसे प्रायः अरणियों—काष्ठखण्डों-की सन्तान कहते हैं।

"अग्नि की दो माताएँ—अर्थात् दो काष्ठ-खण्ड—गतिशील हैं। वे दोनों एक ही काम करती हैं—अर्थात् कृष्णवर्णा होकर अपनी सन्तान उत्पन्न करती हैं। इस नवजात शिशु की जिह्वा पूर्व की ओर प्रसरित होती है, वह अन्धकार को दूर कर देती है, वह शीघ्र जन्यमान है और क्रमशः छोटे-छोटे काष्ठखण्डों में मिल जाती और अपने रक्षक की संवृद्धि करती है[3]।"

"(अग्नि) जिसे कि मनुष्य चतुराई से उत्पन्न करते हैं, कुछ स्थलों में पुराने काष्ठ के अधिष्टान के द्वारा युवावस्थापन्न होती हैं, अन्यत्र धूम्ररूपिणी पताका के साथ श्वेत हो जाती है।

---

१. १.३६.२; २. १.४४.२; ३. १.१४०.३।

...म्नान शीला नहीं है और वृषभवत् गतिशीला है[१]।"
मनुष्य इस प्रकार हाथों को हिलाकर उसे उत्पन्न करते हैं[२]।" "आप देवता हैं, आप हमारे उपहारों को स्वर्गीय नियम के अनुसार देवताओं के प्रति ले जाते हैं। आप सबसे श्रेष्ठ हैं, आप बुद्धिमान् हैं। आपकी पताका धूम है। काष्ठेन्धन से परिपुष्ट होकर आपकी ज्वाला सीधी हो जाती है; आप हृदय को आह्लादित करते हैं; आप सदैव ही वाणी द्वारा यजनशील हैं[३]।"

"वायु से प्रेरित अग्नि बड़े-बड़े वृक्षों पर महाशब्द के साथ प्रसारित जिह्वाओं सहित और वृत्ताकार कान्ति से युक्त आरूढ़ होती है।" "हे अग्नि! आप जरा रहित हैं। जब आप वृषभ की नाईं वन-पादपों को भस्मसात करने को बढ़ते हैं, तब आपका पथ कृष्ण वर्ण हो जाता है[४]।"

"वायु से प्रेरित अग्नि, ज्वालारूपी आयुधों से युक्त, गायों के बीच में बैल की नाईं, वृक्षों के रस पर आक्रमण करती हुई बड़े वेग से झपटती है। वृक्ष और पक्षी भी चारों ओर फैलने वाली (अग्नि) से भयभीत होते हैं[४]।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अग्नि देवता का तादात्म्य भौतिक तत्त्व अग्नि से किया गया, जो कि अरणि-मंथन से उत्पन्न की जाती थी और अपनी सधूम ज्वालाओं से काष्ठ और वनों को जला देती थी। अग्निदेव सदा युवा कहे जाते थे, क्योंकि उन्हें नये इन्धन से नवीनता प्रदान कर सकते थे। साथ ही अग्नि का आवाहन धन के लिए, पुत्र और दीर्घ-

---

१. १०. ४. ५; २. १०. ७. ५; ३. १०. १२. २; ४. १. ५८. ४–५।

जीवन के लिए किया जाता था; पर उनका मुख्य कार्य देवताओं का आमंत्रण करना और मनुष्यों के द्वारा अर्पित हव्य को देवताओं तक पहुँचाना था। पार्थिव भूमिका पर इनका अधिष्ठान होने के कारण, यह अन्य देवताओं की अपेक्षा मनुष्य के अधिक निकट और प्रियतर माने जाते थे।

ऋग्वेद में जिन देवता को सरलता से सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, वे इन्द्र हैं। अधिकतर सूक्त उन्हीं के सम्बन्ध में रचे गये हैं। उन्हें स्पष्ट रूप से देवताओं का प्रधान कहा गया है, यद्यपि कभी-कभी अन्य देवताओं को भी यही प्रतिष्ठा दी गई है इन्द्र—अधिकतर और विशेष रूप से—देवताओं में प्रथम कहे गये हैं, जिससे वैदिक देवताओं में उनका नेतृत्व प्रकट होता है। "विस्तृत स्वर्ग ने इन्द्र के प्रति नमन किया है। विस्तीर्ण पृथ्वी ने स्वीकार्य प्रशंसा के साथ उनका मनन किया है। स्वीकार योग्य उपहारों के साथ समस्त यज्ञ इन्द्र का अभिवादन करते हैं सभी देवों ने एकमत होकर इन्द्र को आगे किया है। मनुष्यों के सारे यज्ञ और समग्र उपहार इन्द्र के निमित्त हों[१]" परन्तु पहले पहल इन्द्र केवल वर्षा के देवता थे। आर्यों के समान, उत्तर-भारत के शुष्क जलवायु में रहनेवाले कृषक वर्ग को समय-समय पर होनेवाली वर्षा की बड़ी अपेक्षा थी; और जब कभी थोड़े समय के लिए भी वर्षा रुक जाती, जैसा कि आजकल भी कभी-कभी हो जाता है, तब आर्य लोगों को बड़ी चिन्ता और कष्ट होता था। ऐसी अनावृष्टि के बाद एक अच्छी वर्षा बड़ी ही सान्त्वना की बात होती थी

---

१. १. १३१. १।

और स्वभावतः उसे देवता की कृपा ही माना जाता था। इन्हीं देवता को इन्द्र कहते थे।

आर्यों की उर्वर कल्पना, में जिस पर कि भय का भी रंग चढ़ा था, वर्षा के अवरोध का हेतु वृत्र या अहि नामक असुर की दुष्चेष्टा मानी जाती थी। आर्यों के उपकारार्थ, इन्द्र ने वृत्र को मार कर, वर्षा के लिए रास्ता खोला था। इन्द्र द्वारा वृत्र का वध वारंवार उनकी प्रशसा का विषय रहा है। ऋग्वेद के सूक्तों में इस घटना का वर्णन हजारों बार हुआ है—पहले तो सामान्य रूप में, पर बाद में आख्यानोचित कल्पना के साथ। यहाँ तक कि पुराणों में यह वृत्तान्त एक विस्तृत गाथा ही बन गया है। "हे इन्द्र ! आपने मेघों को अपावृत किया, जिनमें जल भरा था; वृत्र एवं दूसरे दानवों की निधि को पर्वत में रख दिया; घातुक वृत्र को मार डाला और तब मनुष्यों के दर्शनार्थ सूर्य को आकाश में चढ़ाया[१]।"

"इन्द्र जब अहि से लड़े, तब अहि द्वारा गिराई गई विद्युत् या वर्षा ने इन्द्र का स्पर्श न कर पाया. और इन्द्र ने अहि के अन्य छलों को भी विफल कर दिया[२]।"

इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि यहाँ बिजली और मेघ-गर्जन को अहि का आयुध माना गया है; पर अन्य स्थलों में ये इन्द्र के ही आयुध बन जाते हैं और आख्यान-साहित्य इनकी उत्पत्ति के इतिहास के सम्बन्ध में प्रयत्नशील दिखता है। यहाँ तक कि कुछ आगे चलकर एक बड़ी विशाल और प्रोत्साहक कथा इन्द्र के वज्र की उत्पत्ति के विषय में गढ़

---

१. १.५.४; २. १.३२.१३।

डाली गई। इस मूल-सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए कि इन्द्र वर्षा के देवता थे, हम यहाँ कतिपय अन्य ऋचाओं को उद्धृत करेंगे।

"जब पृथ्वी पर आकाश से वर्षा नहीं हुई, जब वह अच्छे-अच्छे पदार्थों से भरी-पुरी न थी, तब इन्द्र ने अपना वज्र उठाया और उस दीप्तिमान् आयुध द्वारा, कृष्ण मेघ रूपी गायों से वर्षा रूपी स्तन्य दुहा[१]।"

"हे इन्द्र! धारा वृष्टि की सूचना देते हुए आपके द्रुतगामी अश्व ह्रेषा कर रहे हैं (जो मेघों की गर्जना है)। सूखी धरती (इस नाद से) प्रफुल्लित है; इतस्ततः विचरणशील मेघ सुन्दर दिखते हैं[२]।" जल के मध्य निविड़ अन्धकार के बीच वृत्र आकाश में मौज कर रहा था, पर (अपने उपासकों की) इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले इन्द्र ने, सोमपान से आह्लादित होकर, उसे वज्र से मार डाला[३]।"

"संक्रुद्ध इन्द्र ने, निकट आकर, (भय से) काँपते हुए वृत्र के जानु देश पर वज्र-प्रहार किया, जल को प्रवहणशील किया और इस प्रकार अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया[४]।"

"हम इन्द्र के महान् कार्यों की चर्चा करेंगे, जिन्हें कि वज्र के चलाने वाले (इन्द्र) ने आरंभ में किया। उन्होंने वृत्र को मारा, जल बरसाया और पर्वत-वाहिनी नदियों के मार्ग को खोल दिया। इन्द्र ने पर्वत पर छिपनेवाले अहि

---

१. १.३३.७; २. २.११.७; ३. ५.३२.६;
४. १.८०.५।

को मार डाला। त्वष्टा ने उनके लिए वज्र का निर्माण किया था जो दूर तक प्रहार करता है; तब जैसे कि गायें अपने बछड़ों की ओर दौड़ पड़ती हैं, प्रवहनशील जल समुद्र की ओर शीघ्रता से बह चला[१]।"

वृत्र के विजेता होने के बाद, इन्द्र आर्यों के सारे शत्रुओं के विजेता हुए। आर्यों के सभी युद्धों मे, सहायता के लिए इन्द्र का आवाहन किया गया। आकाश के देवताओं के नेता के रूप में, उन्होंने आर्यों के शत्रुओं से युद्ध किया। इस प्रकार वे युद्ध के नेता बन गये। वर्षा के देवता वाली उनकी भूमिका पीछे छूट गई और वे युद्ध के देवता हो गये।

"हे इन्द्र! जब आपने अकेले ही सम्पत्शाली दस्यु का संहार किया—यद्यपि अन्य देव आपके निकट थे, जब अयज्वा सनक आपके धनुष के द्वारा मृत्यु का आलिंगन करने को प्रस्तुत हुए, तब आपने उन्हें मार ही डाला[२]।"

"प्रत्येक उद्योग के आरंभ में, प्रत्येक युद्ध में, हम मित्र के समान अपनी रक्षा के लिए इन्द्र का आवाहन करते हैं[३]।"

"वास्तव में, मनुष्य अपने जीवन को संकट में डालकर युद्ध के अवसर पर, इन्द्र का आवाहन करते हैं, जब योद्धागण आमने-सामने अपने तनय और सन्तति के लिए युद्ध करते हुए देहोत्सर्ग करते हैं, वे इन्द्र को अपना संरक्षक बनाते हैं।"

युद्ध के अवसर पर मनुष्य उन्हें (इन्द्र को) पुकारते हैं, और उनको अपने अनावृत शरीर का रक्षक बनाते हैं[४]।"

---

१. १.३२.१.२; २. १.३३.४; ३. १.१०.७. ४. ४.२४.३।

"हे मनुष्यो ! जिसके (इन्द्र के) विना—जिसे कि लोग युद्ध के समय पुकारते हैं—कोई भी विजयी नहीं हो सकता[१]।" कल्पना ने उन्हें भयानकता का जामा पहना दिया। 'वज्र-पाणि' उनकी सबसे प्रचलित उपाधि हो गई। वे द्यावापृथिव के ऐश्वर्य और वैभव से संयुक्त किये गये। अपने उपासक को इन्द्र ने धन, शक्ति और वैभव दिया।

"हे इन्द्र ! शक्तिमान् ! बुद्धिशालिन् ! प्रकाशमान् ! हम जानते हैं कि चारों ओर की धन-संपदा आपकी है। हे शत्रुओं के विजेता ! उस धन को इकट्ठा कीजिए और उससे हमें पूर्ण करिए। जो आपकी परिचर्या करते हैं, उन्हें निराश न कीजिए[२]।"

"हे इन्द्र ! आप अश्वदाता हैं, गोदाता हैं, अन्नदाता हैं। दाताओं में मुख्य हैं। हे पुरातन देवता ! अपने उपासकों की इच्छाओं के सम्बन्ध में उन्हें निराश न कीजिये। आप मित्रों के बीच में परम मित्र हैं। हम आपके प्रति यह स्तवन करते हैं[३]।"

देवत्वारोप की यह प्रणाली यहीं समाप्त नहीं होती। धीरे-धीरे इन्द्र विश्व-स्रष्टा हो गये। आकाश में सूर्य को स्थापित करनेवाले भी वही हैं। "हे इन्द्र ! आप वृत्र के नाशक हैं। आपने आकाश को विस्तृत किया और अपने पराक्रम से स्वर्ग को ऊपर उठा लिया[४]।" "हे इन्द्र ! आप संसारों के

१. २. १२. ९; २. १. ५३. १; ३. १. ५३. २; ४. १०. १५३. ३।

अद्वितीय स्वामी हैं। आप विश्व के एकमात्र राजा हैं[१]।" "जिन (इन्द्र) की शक्ति का ध्यान स्वर्ग और पृथ्वी करते हैं, जिनके अनुशासन के अनुसार वरुण और सूर्य गतिमान् हैं, जिनकी आज्ञा से नदी बहती हैं, हम मरुद्गण के साथ उन इन्द्र का आवाहन करते हैं—अपना मित्र बन जाने के लिए[२]।" आगे चलकर इन्द्र की शक्ति और ऐश्वर्य के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ कही गईं। जिनका विस्तार पुराणों में हुआ।

सूर्य और सविता दूसरे प्रधान वैदिक देवता हैं। ये दोनों एक ही देवता मालूम होते हैं, जो स्पष्ट ही सूर्य हैं। संस्कृत में दोनों शब्दों का अर्थ 'सूर्य' है। ऋग्वेद के अन्तगत इन दोनों देवताओं का वर्णन प्रत्यक्षतः सूर्य को ही सूचित करता है। यह तो अपेक्षित ही था कि आर्य लोगों के समान भावनाशील व्यक्तियों की भावनाशक्ति को, प्रकृति के समग्र पदार्थों में से अधिक प्रभावित करनेवाले निस्सन्देह सूर्य ही थे, अतः वैदिक धर्म में हम सूर्य का महत्त्व-पूर्ण स्थान पाते हैं। संभाव्य रूप से वैदिक देवताओं में से अनेक देवों का प्रादुर्भाव सूर्य और आकाश से सम्बद्ध प्राकृतिक घटनाओं के कारण हुआ। दो देवताओं या एक ही देवता के दो नामों—अर्थात् सूर्य और सविता—के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता। दिन प्रतिदिन सविता प्राचीद्वार से विश्व को प्रकाशित करने आते हैं। सविता देवता के कार्य की समाप्ति पर रात्रि आ जाती है। जब सविता देवता का आगमन

---

१. ६. ३६. ४ ; २. १. १०१. ३।

होता है, तब नक्षत्र चोरों की नाईं भाग जाते हैं। "प्रकाशमान देवता सविता विश्व की सृष्टि के लिए अविच्छिन्न रूप से उदय होते हैं—यही उनका कार्य है[१]।" बुनाई का कार्य करनेवाली स्त्री के समान रात्रि फिर से प्रकाश को ढक रही है। जिन कामों में बुद्धिमान् लोग अब तक संलग्न थे, उन्हें वे स्थगित करते हैं। जब अविश्रान्त सविता देवता ऋतुओं के विभाजक—फिर से आते हैं, तब लोग पुनः जाग जाते हैं[२]। "आकाश के अन्धकारपूर्ण मार्ग को पार करते हुए, विश्व का निरीक्षण करते हुए तथा अमर्त्यों और मर्त्यों को जगाते हुए सविता देवता अपने स्वर्ण-रथ पर आरूढ़ होकर संचरण करते हैं[३]।"

"सविता ने पृथ्वी की आठों दिशाओं को, जीवसृष्टि के तीनों संसारों को और सप्तसिन्धुओं को दृष्टिगोचर कर दिया है। स्वर्णिम नेत्रोंवाले सविता याजकों के लिए रत्नों तथा अन्य इच्छित पदार्थों के साथ, यहाँ आने की कृपा करें[४]।" हे सूर्य! आप किस प्रकाश से अन्धकार का नाश करते हैं और किन किरणों द्वारा सारे विश्व को उद्भासित करते हैं[५]।" "हे सूर्य! आप सुदीर्घ मार्ग को पार करते हैं; आप सबसे देखे जाते हैं; आप प्रकाश के उत्पादक हैं; आप आकाश में प्रकाशमान हैं[६]।" "हे मित्रावरुण! आप विश्व का एवं सारे जीवों का संरक्षण करते हैं, जैसे कि पशुपालक अपने पशु समुदाय की देखरेख करता है।"

---

१. २. ३८. १; २. २ ३८. ४; ३. १. ३५. २; ४. १. ३५. ८; ५. १०. ३७. ४; ६. १. ५०. ४।

"विश्व के नेत्ररूप सूर्य जब आते हैं, तब नक्षत्र चोरों की तरह भाग जाते हैं[१]।" सूर्य और सविता का तादात्म्य इन उद्धरणों से बिलकुल सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सविता वह देवता हैं, जो अपने उपासकों की इच्छाओं को पूर्ण करते हैं, जो मनुष्य को धन देते हैं और पापों को दूर करने के लिए भी जिनकी प्रार्थना की जाती है। "जो तीनों ज्ञातव्य संसारों को जानते हैं, जो प्रज्ञ हैं, जो देवताओं की रहस्यमयी उत्पत्ति के ज्ञाता हैं, वह सूर्य मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों का सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करते हैं और उनके सभी शुभ संकल्पों को पूर्ण करते हैं[२]।" "सूर्यदेव समग्र पापों को नष्ट करते हुए सुदूर देश से आते हैं[३]।" "हे सूर्य! आप उदय हों और आज हम सबको निष्पाप कर दें[४]।" इस प्रकार ऋग्वेद में सूर्य के भौतिक और भावनात्मक रूप स्पष्ट हैं, जो इन देवता की उत्पत्ति और उनके क्रमशः विकास-प्राप्त स्वरूप को उद्घाटित करते हैं।

दूसरे देवता, जो सूर्य से ही सम्बद्ध नैसर्गिक घटना से उद्भूत मालूम होते हैं, विष्णु हैं। यद्यपि वैदिक धर्म में विष्णु की प्रतिष्ठा, बाद के हिन्दूधर्म में उनके स्थान को दृष्टि में रखते हुए, महत्त्वपूर्ण नहीं है, तथापि ऋग्वेद में प्राप्त उनके उल्लेखों में बहुत रोचक सामग्री मौजूद है। ऋग्वेद में उनके प्रति बहुत से सूक्त नहीं रचे गये, पर उनका जिक्र बड़ी ही श्रद्धा

---

१. १.५०.२; २. ६.५१.२; ३. १.३५.६; ४. ७.६०.१।

से और गंभीरतापूर्वक किया गया है। दशम मण्डल के ६६वें सूक्त की पाँचवीं ऋचा में, जहाँ कि अन्यान्य देवताओं का स्वभाव, विशिष्ट विशेषणों द्वारा प्रकट किया गया है, विष्णु को महान् या ऐश्वर्यशाली कहा गया है। सप्तम मंडल के नवम सूक्त में यह उल्लेख है कि जो लोग पैदा हो चुके हैं अथवा जो पैदा होंगे, उनमें से कोई भी विष्णु की महिमा के छोर को नहीं पा सकता। ये महिमाशाली देवता कौन हैं? इस प्रश्न को निश्चित रूप से हल करने के लिए अधिक सामग्री भी उपलब्ध नहीं है। पर विष्णु की दिव्य उत्पत्ति के सूचक अनेक उल्लेख हैं। सप्तम मंडल के १००वें सूक्त में इनके विषय में कहा गया है कि ये अपनी शत रश्मियों के सहित पृथ्वी पर ऐश्वर्यपूर्वक तीन पैर चले। एक अद्भुत कार्य जो वारंवार और सदा ही विष्णु से सम्बद्ध किया गया है, यह है कि उन्होंने तीन पदक्रम में ही विश्व का संक्रमण कर लिया। "किसके लिए विष्णु ने तीन पदक्रम लिया[१]।" "इन विष्णु ने पीड़ित मनुष्यों के लिए त्रिभुवन को तीन पग में ही नाप डाला[२]।" "मैं विष्णु के महान् कार्यों का वर्णन करूँगा, जिन्होंने त्रिभुवन को नापा, ऊपरी भुवनों को चकित कर दिया; जो तीन पग चले; लोग उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं[३]।" "जिनके तीन संक्रमणों में तीनों भुवन समा गये[४]।" "जिन्होंने तीन लंबे डगों से सुविस्तृत तीनों भुवनों

१. ८. १२. ३ ; २. ६. ४९. १३ ; ३. १. १५४. १ ;
४. १. १५४. २।

को नाप डाला[१]।" सूर्य के सम्बन्ध से विष्णु के इन तीन डगों का अर्थ,—प्रातःकाल आकाश में सूर्य का उदय, आकाशमार्ग में उनका मध्य बिन्दु पर पहुँचना और पश्चिम क्षितिज पर उनका अस्त होना—किया गया है। पुराणों में तो विष्णु के तीन डगों के विषय में एक काल्पनिक कथा ही गढ़ डाली गई है, पर वैदिक काल में इनका अर्थ सूर्य का आकाश में संक्रमण ही समझा गया था। जो ऋचाएँ उद्धृत की गई हैं, उनसे यथेष्ट रूप से यही बात निश्चित होती है। विष्णु के विषय में कहा गया है कि वे १०० किरणों से युक्त हैं। आगे चलकर यह भी कहा गया है कि वे उनसे पृथ्वी का पालन करते हैं। "हे विष्णु! आप द्यावापृथिवी को अनेक प्रकार से सँभाले हुए हैं। आप अपनी किरणों से पृथ्वी को सँभाले हैं[२]।" इसके अतिरिक्त एक प्रसिद्ध ऋचा है, जो विष्णु की तुलना आकाश में विस्तृत नेत्र से करती है। "चतुर लोग विष्णु के सबसे ऊँचे डग को आकाश में विस्तृत नेत्र के समान लगातार देखते हैं।" अतः यह मान लेना बिलकुल ठीक है कि वैदिक देवता विष्णु का मूलभूत रूप सूर्य हैं और अधिक समय तक सूर्य के साथ उनका तादात्म्य बना रहा।

एक अन्य वैदिक देवता का भी प्रादुर्भाव सूर्य-सम्बन्धिनी घटना से हुआ है। ये पूषा देवता हैं। पूषा एक चित्तरंजक एवं प्राचीन देवता हैं। ऋग्वेद में ये प्रधान रूप से पशु और

---

१. १. १५४. १; २. ७. ६६. ३।

तृणमयी भूमि के देवता हैं। ऐसा लगता है कि वैदिक काल के आर्य सुदूर चरागाहों से अपने पशुओं के सकुशल गमन-प्रत्यागमन के लिए उनका आवाहन करते थे। यह बहुत संभव है कि जिस समय पूषा आर्यों के प्रिय देवता थे, उस समय आर्य लोग भ्रमणशील व्यक्ति रहे हों। ऋग्वेद के काल में ही इन देवता का महत्त्व घटने लग गया था। यही क्रम कुछ समय तक जारी रहा। यहाँ तक कि पौराणिक काल में आते-आते पूषा देवता हिन्दूदेव-समुदाय से बिलकुल गायब ही हो गये। तब भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में पूषा पशुचारण से सम्बन्ध रखनेवाले देवता हैं। "पूषा हमारी गायों का अनुसरण करें, पूषा हमारे घोड़ों की रक्षा करें, पूषा हमें भोजन दें[१]।" पूषा का वाहन अजा था। "हम पूषा की प्रशंसा करते हैं, जिनका वाहन अजा है[२]।" पूषा यात्रा में कुशल-क्षेम-विधायक देवता थे। "हे पूषा देवता! आप हमें मार्ग के पार पहुँचा दें। हमारे पापों को दूर करें। हे मेघ-पुत्र! आप हमारे आगे-आगे चलें[३]।" "हे पूषा! जो कोई भी हमें हानि पहुँचानेवाला, तस्कर-बुद्धि या दुष्ट पुरुष हमें दुर्मार्ग में ले जाय, उसे आप हमारे मार्ग से दूर कर दें[४]।" "हमें उन रास्तों से ले चलें, जहाँ अच्छी घास हो; मार्ग में हमें कोई नया कष्ट न हो। हे पूषा! आप हमारी रक्षा के साधनों के ज्ञाता हैं[५]।" यह संभव है

---

१. ६. ५४. ५ ; २. ६. ५५. ४ ; ३. १. ४२. १ ;
४. १. ४२. २ ; ५. १. ४२. ७।

कि सूर्य ही आकाश में प्रकाश करते हुए और चलने-फिरने योग्य रास्तों से रहित मैदानों में, पशुपालों का मार्ग प्रदर्शन करते हुए भ्रमणशील आर्यों द्वारा पूषा के रूप में पूजित हुए हों। यह अनुमान नीचे लिखी ऋचाओं से अधिक पुष्ट हो जाता है।

"पूषा देवता, जिनका वाहन अजा है, जो पशुओं और धन के रक्षक हैं, जो अपने उपासकों को प्रसन्न करते हैं, अपने हाथ में अंकुश घुमाते हुए अखिल विश्व के शासक के रूप में भुवनों का निरीक्षण करते हुए यात्रा करते हैं[1]।"

अन्य देवता, जिनका उद्भव सन्देहास्पद है, यमलभ्राता अश्विनीकुमार हैं। इनका वर्णन सदैव एक ही साथ हुआ है। ऋग्वेद के अनेकानेक सूक्त इनके प्रति कहे गये हैं, एवं इनका उल्लेख भी प्रायः किया गया है। ये यमल अश्विनीदेवता एक मुख्य वैदिक देवता हैं; पर प्रारम्भिक काल में लोग इनका निश्चित स्वरूप भूले हुए थे। ई० पू० ६ठी शताब्दी में यास्काचार्य ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये। "अश्विनीदेवता कौन हैं?" कुछ लोग कहते हैं कि वे पृथ्वी और आकाश हैं; अन्य लोग कहते हैं कि वे अहोरात्र हैं; कुछ दूसरे लोग उन्हें सूर्य और चन्द्र बतलाते हैं। इतिहासज्ञ उन्हें दो दयालु राजा बताते हैं। यदि यह समस्या यास्क के समय में क्लिष्ट थी तो अब तो और भी दुरूह है। इनके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये रोगों को अच्छा करनेवाले थे और पहले-पहल इनका स्तवन आपत्तिकाल में किया जाता था। कुछ

---

१. ६. ५८. २।

बाद में बीमारी के समय इनकी स्तुति की जाने लगी थी।

मुख्य वैदिक देवताओं का एक दूसरा युग्म, जिनका जिक्र यदि सदा नहीं तो प्रायेण साथ ही हुआ है, मित्र और वरुण हैं। इनके उद्‌भव की विवेचना कुछ कम कठिन है। कुछ विद्वानों ने इनका तादात्म्य, ईरानी देवता 'मिथ्रस्' और यूनानी देवता 'यूरनस्' से स्थापित किया है। यह कुछ असंगत भी नहीं है। इन नामों की उच्चारण-ध्वनि में सादृश्य बड़ा विचित्र है और इनमें आनुरूप्य भी है। ईरानी धर्म में मिथ्रस् प्रकाश के देवता हैं, तथा यूनानी कथानकों में 'यूरनस्' आकाश के देवता हैं। वैदिक धर्म में मित्र और वरुण भी सूर्य और आकाश से सम्बद्ध हैं। यह स्पष्ट है कि वैदिक देव-समुदाय में ये प्राचीन देवता हैं और वैदिक काल में ही, पूषा की नाईं, इनका भी महत्त्व घट रहा था। परन्तु इनके विषय में—विशेषतः वरुण के सम्बन्ध में—एक बड़ी गंभीर बात है जो अन्य वैदिक देवताओं के बारे में नहीं है। ऋग्वेद के गंभीरतम नैतिक तथ्यों का सम्बन्ध वरुण से है। पापों से निस्तार के लिए प्रायः इनका स्तवन किया जाता है।

"हे वरुण! हमने देवताओं के सम्बन्ध में जो कुछ अतिक्रमण किया है और आपके जिस किसी भी नियम का उल्लंघन हमसे हुआ है, उनमें से किसी अपराध के लिए आप हमारा हनन न करें[१]।"

"हे वरुण! जिज्ञासाभाव से मैं आपसे उस अपराध के

१. ७.८९.५।

विषय में पूछता हूँ। मैं विज्ञ पुरुषों के निकट अनेक प्रश्न पूछने गया। उन सबों ने एक ही बात कही कि वरुण तुमसे रुष्ट हैं[१]।"

"हे वरुण! मैंने कौन अपराध किया है कि आप अपने मुख्य भक्त को, जो आपका मित्र है, नष्ट करने को उद्यत हैं। हे अदम्य देव! मुझे बताओ, जिससे मैं शीघ्र ही अभिवादनों और उपहारों से आपकी अभ्यर्थना करूँ[२]।"

"हे वरुण! आप हमें उन पापों से बचावें, जो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुए हैं। हमें उन अपराधों से बचावें, जिन्हें हमने अपने शरीर से किया है। हे राजन्! आप हमें अपने पाश से मुक्त करें, पशु या बछड़ा चुरानेवाले चोर जैसे रज्जु-बन्धन से मुक्त होते हैं[३]।"

साधारण तौर पर वरुण के प्रति रचे गये सूक्त आध्यात्मिकता की उच्चतर भूमिका तक पहुँच जाते हैं।

"वे खेचरों और जलचरों के मार्ग के ज्ञाता हैं। वे समुद्र-गामिनी नौकाओं को भी जानते हैं। अपने ऋत के अनुसार वे बारह चान्द्र मासों को भी जानते हैं और उस मास को भी जिसे कि वे (बारह मास) उत्पन्न करते हैं। वे उच्च प्रदेश में प्रसरणशील और बलशाली वायु के मार्ग को भी जानते हैं। वे उन देवताओं को जानते हैं, जिनका आवास वरुण के ऊपर है। ऋत के अनुसार वे अपने जनों के बीच में बैठते हैं। वे बहुत बुद्धिशाली हैं, और शासन करने के लिए वहाँ बैठते हैं[४]।"

---

१. ८.८६.३; २. ७.८६.४; ३. ७.८६.५, ४. १.२५.७-१०।

"वरुण राजा ने सूर्य के नैरन्तरिक संक्रमण के लिए मार्ग बना दिया है। सूर्य के पाद-विक्षेप के लिए उन्होंने मार्ग-रहित आकाश में मार्ग निर्धारित कर दिया है। वे उन शत्रुओं की भर्त्सना करते हैं, जो हमारे हृदय को पीड़ित करते हैं[1]।" वरुण को प्रायः राजा या सम्राट् कहा गया है। उनका वर्णन भयानक और क्षमाशील व्यक्ति के रूप में किया गया है।

"जो (वरुणदेव) अपराधी के प्रति भी कोमल हो जाते हैं, उनके नियम का पालन कर हम पापरहित बनें। आप हमें सकुशल और सुरक्षित रखें[2]।"

"हे मित्र और वरुण! आप दोनों नियमनकारी देवों में ज्येष्ठ, अप्रतिम एवं प्रधान हैं। आप अपनी भुजाओं द्वारा पुरुषों का नियमन करें, जैसे रज्जु द्वारा किया जाता है। आपके स्तवन द्वारा मैं आपका यशोविस्तार करता हूँ[3]।" परन्तु ऋग्वेद में ही मित्र और वरुण की प्रतिष्ठा धीरे-धीरे घट रही थी। हिन्दुओं के बाद के उपाख्यानों में, वरुण केवल समुद्र के देवता रह जाते हैं और मित्र का तो लोप ही हो जाता है। इस क्रमिक ह्रास का आरम्भ ऋग्वेद में हो चुका था। वहाँ वरुण को प्रायः जल का देवता कहा गया है। दशम मंडल के ६६वें सूक्त में, जहाँ कि कुछ देवताओं की स्वरूपनिष्पत्ति विशेष लक्षणों द्वारा की गई है, वरुण को जल का देवता कहा गया है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वैदिक देवताओं में से सबसे गम्भीर और आध्यात्मिक देवता वरुण हैं।

---

१. १. २४. ८; २. ७. ८७. ७; ३. ६. ६७. १।

वैदिक देवताओं के विषय में, उनका स्वभाव और उत्पत्ति समझाने के लिए, बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब बचे हुए कम महत्त्वपूर्ण देवताओं का ब्योरा जारी रखना आवश्यक नहीं है। पूरे वैदिक काल में इनकी उपासना जारी रही, यद्यपि उसके अन्तिम भाग में उन सबके तादात्म्य की एक धुँधली कल्पना ऋषियों के मस्तिष्क में पैदा हुई। ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ आर्यों ने प्रकृति की शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को पहचाना और तभी इस तथ्य की झलक मिली कि स्वर्ग और पृथिवी के विभिन्न पदार्थ और शक्तियाँ एक ही बृहत् सत्य के भिन्न-भिन्न प्रादुर्भाव हैं। ऐसा लगता है कि लोग दो प्रणालियों द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे थे। एक का तो स्वर्गीय प्रो० मैक्सम्यूलर ने 'हिनोथिज़्म' नाम दिया, जिसके अनुसार किसी एक देवता को, एक समय में, विशेष महत्त्व दिया जाता है। वास्तव में, यह बात न केवल वैदिक साहित्य की, अपितु हिन्दुओं के समग्र धार्मिक साहित्य की एक साधारण विशेषता थी। जब किसी एक देवता के विषय में कुछ कहा जाता था तो उसे ही सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया जाता था और लगभग उसे परमेश्वर की उच्च भूमिका पर बिठा दिया जाता था। इस प्रकार हम यह देख चुके हैं कि कभी इन्द्र, कभी वरुण, कभी सविता, कभी अग्नि क्रम-क्रम से देवों में मुख्य माने गये या इन्हें सृष्टिकर्त्ता माना गया।

वेदों में एकेश्वरवाद की ओर जो प्रवृत्ति हुई, उसकी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न वैदिक देवताओं के तादात्म्य के रूप में प्रकट हुई। यह संभव है कि इस प्रक्रिया का आरम्भ पहलेपहल

कुछ ही देवताओं के सम्बन्ध में हुआ हो। इस गुरुतर कार्य में संभवतः अग्निदेवता के द्वारा पहलेपहल कुछ संकेत मिला हो। वैदिक ऋषियों ने स्वर्ग और पृथ्वी की अग्नि में तादात्म्य को स्पष्ट रूप से अवगत किया था।

"इन अग्निदेव के तीन महान् यथार्थ और श्लाघ्य जन्म हैं। निस्सीम प्रदेश में, उनमें विशुद्धता, दीप्तिमत्ता, मैत्री एवं उत्कृष्ट प्रकाशमत्ता का समारोप किया गया[1]।" सायण ने इन तीन प्रकार की उत्पत्तियों का अभिप्राय यह बताया है कि ये अग्नि, वायु और सूर्य हैं। पर अन्यत्र इन तीनों उत्पत्तियों का स्पष्ट निर्देश हुआ है।

"अग्नि की पहली उत्पत्ति आकाश में (विद्युत् के रूप में) हुई; दूसरी 'जातवेदस्' के रूप में हमारे बीच में; तीसरी जल में इस भाँति अग्नि, जो मनुष्यों का उपकारक देवता है, सदा ही प्रकाशशील है[2]।" इसके बाद तीसरे मंडल में एक मनोहर सूक्त (५५वाँ) है, जिसकी ऋचाएँ क्रम से अनेक देवताओं—जैसे कि उषस्, अग्नि, पृथ्वी, द्यौ, इन्द्र आदि—के प्रति उच्चरित की गई हैं। पर प्रत्येक मण्डल के अन्त में टेक के रूप में एक पद्यांश आता है—"देवताओं की विशाल महिमा एक है।" इस उक्ति में देवताओं के ऐक्य की असन्दिग्ध स्वीकारोक्ति है। प्रथम मण्डल के ७ वें सूक्त में देवताओं के ऐक्य का निर्देश दूसरे ढंग से व्यक्त किया गया है, जहाँ यह कहा गया है कि भिन्न-भिन्न देवताओं के प्रति की गई स्तुतियाँ इन्द्र की

---

१. ४. १. ७; २. १०. ४५. १।

स्तुतियाँ हैं। अन्ततोगत्वा प्रथम मण्डल में एक प्रसिद्ध ऋचा है, जिसमें यह भाव प्रकट किया गया है कि भिन्न-भिन्न देवता एक ही परमेश्वर के नामान्तर हैं।

"लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और शोभन पक्षधारी दिव्य गरुत्मान् कहते हैं; ऋषि एक ही यथार्थ सत्ता को अग्नि, यम, मातरिश्वा नामों से अभिहित करते हैं[१]।" इस बात के अनेक निर्देश हैं कि वैदिक ऋषियों के सामने एक यह धुँधला चित्र था कि दृश्यमान पदार्थों के ऊपर—अनेक देवी-देवताओं के ऊपर—एक परमेश्वर है। "वे ही (अर्थात् पृथ्वी और स्वर्ग ही) सब कुछ नहीं हैं; उनके ऊपर एक अन्य सत्ता है। वही सृष्टिकर्त्री है, और वही अन्न की अधिष्ठात्री है। जब सूर्य के अश्वों ने उनका (सूर्य का) संवहन नहीं किया था, उसी ने उन देवता का पवित्र स्वरूप निष्पन्न किया था—अर्थात् सूर्योत्पत्ति के पहले उसकी सत्ता थी—[२]।" तब भी हम वैदिक धर्म को एकेश्वरवाद नहीं कह सकते, सो भी वैदिक युग के अन्तिम भाग में। ऋग्वेद के वे अनेक अंश जिनमें एकेश्वरवाद की स्पष्ट छाप है या तो प्रथम मंडल के हैं या फिर दशम मण्डल के, जिन्हें कि विद्वान् लोग वैदिक युग के अन्त के मानते हैं। यह एकेश्वरवाद का धुँधला प्रकाश उपनिषदों में अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ है।

वैदिक धर्म की केवल यही श्रेष्ठता नहीं है कि वह अनेक अदृश्य सत्ताओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है—जो सत्ताएँ

---

१. १.१६४.४६; २. १०.३१.८।

कि हमारी भूमिका की अपेक्षा उच्चतर भूमिका पर हैं—परन्तु इस बात के ज्ञान में भी है कि उन सत्ताओं से हमारा सम्पर्क स्थापित हो सकता है तथा वे मानव-कार्यकलाप के प्रति तटस्थ नहीं हैं, प्रत्युत हमारे कल्याण के लिए साकांक्ष हैं और मनुष्यों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैदिक युग के आर्यों ने देवताओं का आह्वान बहुत सच्चे हृदय से किया है। उन्होंने देवताओं का समाश्रयण प्रार्थनाओं और भेंटों के साथ एवं विशिष्ट स्वातंत्र्य तथा घनिष्ठता के भाव से किया है—साथ ही वह आधुनिक युग की सबसे समुन्नत प्रणाली के अनुसार गंभीरतर भावनाओं से युक्त भी है। वैदिक सूक्तों में मनुष्य और देवताओं के बीच की घनिष्ठता बढ़ते-बढ़ते गंभीर और कोमल भावनाओं से युक्त प्रीतिकर सम्बन्ध में प्रस्फुटित हुई। आर्यों ने देवताओं की स्तुति उन्हें स्वामी, पिता और मित्र कहकर की। यथा—'मैं अग्निदेवता को अपना पिता, निकट सम्बन्धी, भाई और सर्व-कालीन मित्र मानता हूँ[1]।" "जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है, इन्द्र देवता हमारी रक्षा के लिए वज्र धारण किये हैं[2]।" "जैसे पिता पुत्र पर कृपा करता है, वैसे ही आप हम पर कृपा करें। हमें नाश से भी बचावें। आपका प्रताप महान् है[3]।"

परन्तु यह घनिष्ठतर एवं शिष्ट सम्बन्ध मूलतः स्पष्ट रूप से स्वार्थ-मय तथा लाभपरवश भी था। मनुष्यों और देवताओं में परस्पर आदान-प्रदान का सम्बन्ध था। देवता मनुष्यों को धन, सम्पत्ति, सन्तति, दीर्घ-जीवन देते थे और मनुष्य उनकी

---

१. १०.७.३; २. १०.२२.३; ३. १०.२५.३।

स्तुति करते, उन्हें सोम तथा अन्य उपहार अर्पित करते और अनेक यज्ञ करते थे। यह एक सीधी-सादी लेन-देन की प्रणाली थी। जो लोग देवताओं को भेंट-पूजा न चढ़ाते, उन्हें संसार के अच्छे-अच्छे पदार्थ न मिलते।

"जो लोग स्वयं तो सुखोपभोग करते हैं, परन्तु स्तुतियों द्वारा (देवताओं को) प्रसन्न नहीं करते, आप (विश्वेदेवा देवता) उनके धन का क्षय कर दीजिए। जो लोग स्तुतियों से घृणा करते हैं और यज्ञ नहीं करते, यदि वे भेंट चढ़ावें, तो भी आप उन्हें सूर्य से वंचित कर दें[१]।" यज्ञ, उपहारों और स्तवनों का मूल प्रयोजन—कम से कम प्रारम्भिक अवस्था में तो अवश्य ही—मनुष्यों को धन और सम्पत्ति देने के लिए देवताओं को प्रलोभन देना था।

"हे इन्द्र! 'विमदों' ने आपको बहुत उदार जानकर, आपके निमित्त इस अपूर्व स्तवन की रचना की है। हम जानते हैं कि उन्हें किस पदार्थ से प्रसन्नता होती है। जिस प्रकार पशुपालक पशुओं को भोजन का प्रलोभन देकर अपने निकट ले आते हैं, इसी प्रकार हम इन्द्र को अपने सन्निकट लावें[२]।" मनुष्यों की ओर से विनिमय के पदार्थ यज्ञ थे; देवताओं की दृष्टि में उनका बड़ा मूल्य था। यथार्थ बात तो यह है कि देवता स्तुतियों और यज्ञों की उतनी ही इच्छा करते थे जितनी कि मनुष्य उनकी कृपाओं की। इस प्रकार, स्तुतियों और यज्ञों द्वारा आर्य लोगों ने निरन्तर देवताओं से

---

१. ६. ४२. ६; २. १०. २३. ६।

अनुग्रह की याचना की थी। हमें यह पदार्थ दीजिए, हमें वह पदार्थ दीजिए। इस प्रकार के उद्घोष बराबर वैदिक सूक्तों में मिलते हैं। जिस वस्तु के लिए उन्होंने सबसे अधिक प्रार्थनाएँ की हैं, वह धन है। "हमारे पुत्रों के लिए हमें बहुत धन दीजिए। हमारे पौत्रों के लिए बहुत धन दीजिए। हमारे आवासों के लिए खूब धन दीजिए[१]।" ऐसा लगता है कि आर्य लोग निर्धनता से बहुत ही भयभीत थे।

"हे वरुण! मेरी यह प्रार्थना है कि मुझे अपने किसी प्रिय सम्बन्धी की निर्धनता की चर्चा किसी धनिक से न करनी पड़े। मुझे आवश्यक धन की कमी न हो। हम अपने पुत्र-पौत्रादिकों सहित आपकी बड़ी प्रशंसा करेंगे[२]।" यह अंश अनेक सूक्तों का अन्तिम भाग है। "हे राजा वरुण! मुझे किसी दूसरे की कमाई पर आश्रित न होना पड़े[३]।" इस प्रकार वे लोग गायों और अश्वों के लिए, भोजन के लिए और हर तरह की सुख-सुविधा के निमित्त निस्संकोच प्रार्थना करते थे। "हम इन्द्र से एक सहस्र रथशाली अश्वों की याचना करते हैं। हम सौ घड़े सोम की याचना करते हैं[४]।" "हम अपने जनों के अभ्युदय के लिए, गायों की संवृद्धि के लिए, अपने रथों की विजयिनी यात्रा के लिए और यज्ञानुष्ठान के लिए प्रार्थना करते हैं[५]।"

---

१. ८.६८.१२; २. २.२७.१७; ३. २.२८.६; ४. ४.३२.१७; ५. ८.६८.१३।

"भोज लोग दुग्ध और नवनीत देनेवाली उत्तम कोटि की गायों को प्राप्त करें ; भोज लोग सुसज्जित पत्नियों को प्राप्त करें ; भोज लोग सुरासार को पावें । भोज लोग उद्दण्ड शत्रुओं को जीतें[१] ।" "आप अपने उपासकों को सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त करावें । हमारा शत्रुओं, अपराधों तथा दुःखों से छुटकारा हो जाय; हमारा इन सबसे छुटकारा हो जाय[२] ।"

"हे इन्द्र ! रथाधिष्ठित आपके पास हमारी प्रार्थनाएँ कब पहुँचेंगी ? आप अपने परिचारक को सहस्रों पीढ़ियों के भरण-पोषण के साधन कब प्रदान करेंगे ? आप हमारे यज्ञों को भोजनदायिनी कब करेंगे[३] ?" दूसरा पदार्थ, जिसके लिए अधिकतर प्रार्थना की जाती थी, दीर्घ-जीवन था । "हमें धन दीजिए और विनाशकारी शत्रुओं से बचाइए । हम अपने वीर पुत्रों के साथ सौ जाड़े की ऋतुओं का आनन्द लें[४] ।" इसी शैली में वैदिक सूक्तों द्वारा भोजन, पेय पदार्थ, पत्नी, सन्तति, दीर्घ-जीवन एवं सुख और आनन्ददायी प्रत्येक सम्भाव्य पदार्थ के लिए प्रार्थना की गई है । इतने पर भी संसार से ऊब जाने या घबड़ाने की भावना सूक्तों में कहीं नहीं पाई जाती है, जो कि बाद के हिन्दू-साहित्य में विशेष रूप से मिलती है । जीवन उनके लिए सुखकारी और वरदान के समान था । इस संसार में जो कुछ उत्कृष्ट है, उसका बड़ी ही तन्मयता से उन्होंने उपभोग किया था और उसकी अधिकाधिक प्राप्ति के

---

१. १०. १०७. ६ ; २. ६. २. ११ ; ३. ६. ३५. १. ४ ;
४. ६. १५. ६ ।

लिए प्रार्थना की थी। साथ ही दूसरे संसार जो कुछ उत्कृष्टता है उसके प्रति वे विशेष रूप से साकांक्ष न थे। प्रत्यक्षतः उनके समग्र सुख और आशाएँ इसी संसार एवं तत्सम्बन्धी पदार्थों में केन्द्रीभूत थे। हम जिन्हें आध्यात्मिक विचार कहते हैं, उनकी चर्चा ऋग्वेद में अधिक नहीं है। देवताओं के स्वरूप का निर्धारण, उनके आध्यात्मिक गुणों के निदर्शन की अपेक्षा, उनकी भौतिक वैभवशीलता के आधार पर किया गया है, यद्यपि यत्र-तत्र "सत्य के परिपालक", "पाप के नाशक" आदि विशेषणों का प्रयोग देवताओं के सम्बन्ध में मिलता है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि ऋग्वेद में गंभीरतम आध्यात्मिक भावनाएँ वरुण देवता के सम्बन्ध में मिलती हैं। उनके सम्बन्ध में प्रायः प्रयुक्त होनेवाला एक साधारण विशेषण "धृतव्रत"—अर्थात् नियम का अभिरक्षक है। यद्यपि आध्यात्मिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए की गई प्रार्थनाओं का नितान्त अभाव नहीं है, तथापि इस प्रकार की प्रार्थनाएँ भौतिक पदार्थों के लिए प्रार्थनाओं के मुकाबले में नहीं के बराबर हैं। यत्र-तत्र ऐसी प्रार्थनाएँ हैं, जिनमें आध्यात्मिक प्रकाश की प्राप्ति के लिए सच्ची भावनाएँ व्यक्त हैं। "आपके निमित्त यज्ञ करनेवाला मैं, आपकी परिचर्या उपहारों द्वारा करता हूँ, आपके मैत्री भाव का और सद्ज्ञान का इच्छुक मैं आपकी उपासना करता हूँ[1]।" देवताओं की उपासना के इच्छुक होते हुए और उनका स्तवन करते हुए

---

1. ३. १. १२।

हम अन्धकार को पारकर दूसरी ओर चले जायँगे[1]।"

"हे अदिति ! हे वरुण ! हे मित्र ! यदि हमने आपका कोई अपराध किया हो तो आप हमें क्षमा कर दें। हे इन्द्र ! हम लोग व्यापक 'अभय-ज्योति' में प्रवेश करें; 'दीर्घ-तमिस्र' हमें स्पर्श न करे[2]।" "अभय-ज्योति" और "दीर्घ-तमिस्र" से क्या तात्पर्य है, यह सन्देहास्पद है। तब भी यह प्रार्थना सुख-सम्पत्तिवाली साधारण प्रार्थनाओं से कहीं बढ़कर है। इसके बादवाले सूक्त में ज्योति के लिए फिर प्रार्थना की गई है। "हम लोग ज्योति से बहिष्कृत न किये जायँ[3]।" अन्त में वह प्रसिद्ध ऋचा आती है जो दैनिक ध्यानोपासना का एक छोटा सा मंत्र है, "हम सविता देवता के वरेण्य भर्ग का ध्यान करें जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है[4]।"

अपराध की भावना, किसी भी जाति या वर्ग के धार्मिक भावों की गहनता की निश्चित रूप से अक्सर निर्देशक मानी गई है। पाप या अपराध से छुटकारा पाने के लिए वैदिक सूक्तों में सुन्दर-सुन्दर प्रार्थनाएँ यत्र-तत्र मिलती हैं, यद्यपि यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि धन-दौलत, सन्तति एवं दीर्घ-जीवन के लिए की गई प्रार्थनाओं के मुकाबिले में इनकी संख्या अधिक नहीं है। तब भी, ऋग्वेद में अपराध से विनिर्मुक्ति की प्रार्थनाओं का अभाव नहीं है।

किसी भी समाज की धार्मिक भावनाओं में एक आवश्यक बात है—मृत्यु के बाद की जिन्दगी की भावना। इस सम्बन्ध

---

१. ७.७३.१.; २. २.२७.१४; ३ २.२९.७; ४. ३.६२.१०।

में कुछ कहना अपेक्षित है, विशेषकर इस बात को ध्यान में रखकर कि पिछले हिन्दूधर्म में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस मसले ने सारे समाज का या ऋषियों और विचारकों का ध्यान गंभीर रूप से अपनी ओर आकृष्ट नहीं किया था। वे लोग तो परलोक के जीवन की अपेक्षा इसी जीवन के तथ्यों के प्रति अधिक दत्तचित्त थे। मृत्यु के बाद जीवन में लोगों को दृढ़ विश्वास था। मृत्यु जीवन का अन्त नहीं मानी जाती थी। शरीर के नाश से जीवन का नाश नहीं समझा जाता था। शरीर और आत्मा का भेद स्पष्ट रूप से बताया गया था। परन्तु इस समय तक मृत्यूत्तर-जीवन के ब्योरेवाले पेंचीदा सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं हुए थे। ऋग्वेद में पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त का कोई जिक्र नहीं है। यह विश्वास किया जाता था कि मृत्यु के बाद आत्मा एक दूसरी दुनिया में प्रवेश करती है जिसे कभी-कभी यमलोक या मृत्यु-लोक अथवा 'पितृलोक' कहा जाता था। यह लोक हर्ष और प्रकाश की वह भूमिका है जहाँ कि 'प्रेत-आत्मा' राजा यम या मृत्यु के अनुशासन में, अपने पितरों के साथ शाश्वत आनन्द में रहती है।

"हे पवमान ! वास दो मुझको
मृत्युरहित अक्षय जग में।
जहाँ प्रकाश स्वर्ग का फैले
अरु जहँ शाश्वत दीप्ति दिये
व हो इन्दु ! तुम व हो इन्द्र के हेतु[1] ।"

---

१. ६. ११३. ७।

"कर दो अमर राज्य में मुझको
जहाँ बसें राजा वैवस्वत् ।
जहाँ भूमिका गुप्त स्वर्ग की,
जहाँ निहित जल—नव अरु स्वच्छ ।
वहो इन्दु तुम वहो इन्द्र के हेतु[1] ।"

"पाप-कलुष से विनिर्मुक्त हो,
खोजो निज नवीन आवास
धारण करो शरीर दूसरा
दीप्तिमान जो सम्यक् यश से[2] ।"

इस जीवन में किये गये शुभ-
कर्मों के परिणामों का
भोग प्राप्त होता है उनको
गये यहाँ से स्वर्गलोक जो

"उच्च स्वर्ग में रहें वही जो करते यहाँ दक्षिणादान
अश्वदान करनेवाले तो रहते सदा सूर्य के साथ
मिले उन्हें अमृतत्व सदा ही जो हिरण्य द्यां थे देने ।
वस्त्र दान करनेवाले को मिले दीर्घजीवन हे सोम[3] !"

यह सब होते हुए भी अब तक कोई निश्चित मापदण्ड, इस जीवन में किये गये पुण्य-पाप के अनुसार भावी जीवन में सुख-दुःखादि के भोग का, निर्धारित न हो पाया था। ऋग्वेद में स्वर्ग के प्रतिरूप अन्धतामिस्र का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है।

---

१. ९. ११३. ८.; २. १०. १४. ८; ३. १०. १०७. २ ।

"हे इन्द्र और सोम ! दुष्टों को गर्त्त में डाल दीजिए, उन्हें आधारशून्य अन्धकार में—डाल दीजिए। ताकि वहाँ से कोई लौट न सके। इस प्रकार आपका क्रोध सफल और विजयी हो[१]।"

परन्तु अन्धकारयुक्त संसार का यह वर्णन न तो उतनी बार दोहराया गया है और न उतना पूर्ण ही है जितना कि यमलोक का वर्णन। सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मृत्यु के बादवाले जीवन का चित्रण स्वल्प कुछ-कुछ अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध सा है। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि जिन स्थलों में उक्त विषय का उल्लेख हुआ है, वे सन्दर्भ और भाषा की दृष्टि से पिछले वैदिक काल के हैं।

---

१. ७. १०४. ९.

अध्याय ४

यजुर्वेद

[अरे !]

ये भूतकाल की ध्वनियाँ—
छिन्न शृंखला की कड़ियाँ—
हैं पक्षी के पक्ष-सदृश जो,
ले जा सकती हैं मुझको फिर
वापस, उस गत-काल-परिधि में,
जो न कभी ह्याँ है आ सकता।
ये भूतकाल की ध्वनियाँ—
छिन्न शृंखला की कड़ियाँ।

ऋग्वेद के अतिरिक्त, हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों की शृंखला में दूसरा स्वतः प्रमाण-ग्रन्थ यजुर्वेद है। काव्य तथा ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि यह ग्रन्थ ऋग्वेद के समकक्ष नहीं ठहरता, तथापि पुरोहितवर्ग में यह विशेष समादृत था। यथार्थतया यजुर्वेद यज्ञ-सम्बन्धी प्रक्रिया का एक सार-ग्रन्थ,

वैदिक प्रार्थनाओं की पुस्तक और पुरोहित की पुस्तिका है। प्रत्यक्षतः यह संग्रह-ग्रन्थ है, मौलिक नहीं। इसमें भिन्न-भिन्न यज्ञों की पद्धतियाँ सन्निहित हैं। ये पद्धतियाँ यजुष् कहलानेवाले छोटे-छोटे मंत्रों द्वारा बनी हैं। अवश्य ही पुरोहित-समाज ने कालक्रमानुसार इनका संग्रह किया होगा, जिनमें ऋग्वेद के मंत्र यत्र-तत्र मिल गये होंगे। एक प्रामाणिक और सम्पूर्ण ग्रन्थ के रूप में सभी आवश्यकताओं की पद्धति की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है, और संभवतः इसी स्वाभाविक अपेक्षा की पूर्ति ही यजुर्वेद की रचना का हेतु है। सामान्य रूप से किये गये वेदों के विभाजन में यद्यपि यजुर्वेद का स्थान दूसरा है, तथापि कालक्रमानुसार संभवतः इसकी रचना अथर्ववेद के भी बाद हुई है। यजुर्वेद में ऐसी ऋचाएँ आती हैं, जो मौलिक या परिवर्तित रूप में अथर्ववेद से स्पष्टतः ली गई हैं। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में जिन तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का उल्लेख हुआ है, उनसे यही लक्षित होता है कि इसकी रचना बाद में हुई और उन्हीं के द्वारा ऋग्वेद से इसकी दूरी भी झलकती है। जब कि ऋग्वेद में वर्ण-विभाग का प्रतिपादक कोई संकेत कठिनता से मिलता है। यजुर्वेद में हमें चारों वर्णों का विकसित रूप में वर्णन मिलता है। अवश्य ही, यजुर्वेद भिन्न-भिन्न कालों में रचे गये मंत्रों या सूत्रों का संग्रह है। अतः उसके अन्तर्गत जो विचार उपलब्ध होते हैं, वे चाहे धार्मिक हों या सामाजिक, उनमें एकरसता नहीं है। उदाहरण के लिए कुछ उल्लेख इस प्रकार के मिलते हैं, जिनके कारण हमें यह मानना ही

पड़ता है कि चातुर्यवर्ण-व्यवस्था पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो चुकी थी और उसकी जड़ें, समाज में ज़म चुकी थीं। परन्तु कुछ अन्य प्रकरणों से ऐसा लगता है कि यह व्यवस्था अभी अपूर्ण ही थी। दो उच्चवर्ण—अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय—यजुर्वेद में आद्यन्त स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। ये ही दो ऐसे वर्ण हैं, जिनका उल्लेख बहुत बार हुआ है; इन्हीं के हितों की सुरक्षा का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है और उनके अभ्युदय के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। स्पष्ट रूप से यही दो वर्ण समाज के मुख्य अंग थे, अन्य वर्ण कुछ उपेक्षित से थे। वैश्य वर्ण को भी उनसे सम्बद्ध नहीं किया गया है।

"ब्राह्मणों को सबल बनाइए, राजन्य को सबल करिए, हमारी जीवनी शक्ति को बलशाली करिए और हमारी सन्तति को बलिष्ठ करिए[१]।"

"अग्निदेव हमारे ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व की रक्षा करें। उन्हीं अग्निदेव की जय हो[२]।"

"हे ब्रह्मन्! राष्ट्र में अपने धार्मिक ज्ञान के लिए सुप्रसिद्ध ब्राह्मण उत्पन्न हों; शूर और कुशल धानुष्क—बाणों से (शत्रु को) वेधनेवाले, बड़े ही वीर राजन्य उत्पन्न हों; प्रचुर मात्रा में दूध देनेवाली गायें पैदा हों; भारवहन में समर्थ बैल उत्पन्न हों; जवन तुरग और उद्योगशीला स्त्रियाँ उत्पन्न हों[३]।"

यहाँ हम ऋषि को गौ, वृषभ और अश्व के लिए भी

१. ४. २७; २. १८. ३८; ३. २२. २२।

प्रार्थना करते पाते हैं; परन्तु शूद्र या वैश्य के लिए कोई प्रार्थना नहीं की गई है। आर्यों के सामाजिक व्यवस्था के विकासक्रम में, सुदीर्घ काल तक, पुरोहितवर्ग और वीर-वर्ग—अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय—प्रधान थे और इन लोगों ने कृषि या वाणिज्य में संलग्न लोगों को समाज में मान्यता नहीं दी थी। परन्तु कालान्तर में, समाज के प्रति अपनी सेवाओं के महत्त्व के कारण, इन्होंने अपनी मर्यादा स्वतः स्थापित कर ली होगी। तभी विशिष्ट वर्ण—ब्राह्मण और क्षत्रिय—ने मजबूर होकर सामाजिक व्यवस्था के भीतर इन्हें भी स्थान दिया। शूद्र वर्ण की स्थिति में जो क्रमशः सुधार हुआ, वह एक मनोरंजक बात है। जब आर्य लोगों का सम्पर्क इस भूमि की असली सन्तति से हुआ, तो पहले उन्हें शत्रु समझा गया। उनका वाचक शब्द ऋग्वेद में दस्यु या डाकू है। यजुर्वेद में उन्हें अधिकतर दास कहा गया है। इस प्रकार दस्यु या भयंकर शत्रु दास में परिणत हो गया। दीर्घकालीन और रक्तपातपूर्ण युद्ध के पश्चात्, जब कि इस देश के निवासियों ने आक्रमण-कारियों की महती शक्ति अथवा विशाल साधनों के सामने माथा टेक दिया, जिन लोगों ने विजेताओं की अधीनता स्वीकार कर ली, उन्हें ग़ुलाम बना डाला गया। इसके अनेक उदाहरण विश्व के इतिहास में मिलते हैं। उन्हें सभी तरह के दासजनोचित अपकृष्ट कामों में लगाया गया—समाज में उनका स्थान या उनकी प्रतिष्ठा विना निर्धारित किये हुए। आगे चलकर दास बहुत उपयोगी सिद्ध हुए और एक-एक करके सभी शिल्प और कलाओं के व्यवसाय

उन्हीं के हाथ में आ गये। गौरवर्ण विजेताओं ने पहले तो अपने को या तो ज्ञान-सम्पादन में लगाया या शस्त्र-प्रयोग में और पीछे आरामतलब और निरुद्योग जीवन व्यतीत करने लगे। जिन व्यवसायों पर पिछले समय में शूद्रों का एकाधिकार हो गया था और जो तुच्छ या नीची श्रेणी के पेशे कहे जाते थे, उन्हें विना किसी सामाजिक भर्त्सना के, भय के, प्रारम्भिक काल में सभी वर्गों के लोग स्वच्छन्दता से करते थे। आर्य लोग खुद बढ़ई, लौहकार या स्वर्णकार आदि थे। परन्तु जब विजित दस्युवर्ग की मेहनत-मजदूरी सस्ते में मिल सकती थी, तब स्वभावतः विजेताओं ने सभी परिश्रमवाले काम उन्हें सौंप दिये। इस नई स्थिति में, विजित लोगों को अपनी सत्ता स्थापित करने का एक अच्छा अवसर मिल गया। उन्होंने अपने को बहुत ही कार्यक्षम और उपयुक्त सिद्ध किया। ऐसी स्थिति में शासकवर्ग उन्हें बिलकुल उपेक्षित न कर सका और सामाजिक परिधि के भीतर उन्हें भी स्थान देना वांछनीय समझा। इस प्रकार वे 'समाज-पुरुष' के चार अंगों में से एक अंग—यद्यपि वह निम्नतम था—मान लिये गये। आर्यों के परम शत्रु दस्यु—उपयोगी एवं आज्ञाकारी शिल्पी—अंततोगत्वा शूद्र बन गये। वैदिक काल समाप्त होने के पहले ही यह सामाजिक परिवर्त्तन सम्पन्न हो गया। यद्यपि यजुर्वेद के अनेक स्थलों में केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय का ही उल्लेख हुआ है, तथापि कतिपय स्थलों पर वैश्य और शूद्र का भी उल्लेख है। उदाहरण के लिए नीचे लिखा हुआ उद्धरण ध्यान देने योग्य है, जिसमें ब्राह्मण और

क्षत्रिय के साथ-साथ वैश्य और शूद्र के लिए भी प्रार्थना की गई है।

"ब्राह्मणों को तेजस्वी बनाइये, क्षत्रियों को तेजोयुक्त कीजिए, वैश्यों और शूद्रों को तेजस्वी करिये। हमें तेजस् के द्वारा ही तेजस्वी करिए[1]।"

यद्यपि यजुर्वेद के संकलन के पहले ही चारों वर्ण स्पष्ट रूप से बन चुके थे, तब भी यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ये वर्ण कुल क्रमागत हो चुके थे। इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि यह वर्गीकरण योग्यता और व्यवसाय के ऊपर कम से कम ब्राह्मण और क्षत्रिय के सम्बन्ध में आश्रित न था। स्पष्टतः ब्राह्मणवर्ण के विकास का एक लम्बा इतिहास है। ब्राह्मण शब्द ही एक क्रमिक विकास का परिणाम था। ऋग्वेद में यह शब्द बहुत ही कम मिलता है। ऋग्वेद में सूक्तों के रचयिताओं एवं मंत्रद्रष्टाओं के लिए सामान्यरूप से जिस शब्द का प्रयोग किया गया है, वह शब्द 'विप्र' है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी 'ब्राह्मण' शब्द बहुत ही कम मिलता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में पुरोहित'वर्ग' का सामान्य अभि-धायक शब्द 'ब्रह्मा' है। प्रत्यक्षतः यह वही शब्द है जो ऋग्वेद के पिछले काल में ऋत्विजों के चार वर्गों में से एक वर्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के पिछले काल में यज्ञों के अधिपति को ब्रह्मा कहा गया है। यजुर्वेद के काल में इस सुप्रतिष्ठित अभिधान का साधारणीकरण कर दिया गया और

---

1. १८,१८।

इसका प्रयोग उन सभी ऋत्विजों के लिए होने लगा जो यज्ञ कार्य में सम्मिलित होते थे। आगे चलकर इसका रूपान्तर 'ब्रह्मन्' हो गया और अन्त में यही 'ब्राह्मण' बन गया जो कि आज भी सामान्य रूप से पुरोहितवर्ग का वाचक है।

धार्मिक विचारों के विषय में यजुर्वेद में, ऋग्वेद की अपेक्षा कोई प्रगति नहीं मिलती। यजुर्वेद में हमें ऋग्वेद के ही देवताओं की स्तुतियों और यज्ञों का विधान मिलता है, यद्यपि इस बीच में उन देवताओं की प्रतिष्ठा और महत्त्व में अपेक्षाकृत अन्तर आ गया था। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि यजुर्वेद में प्रजापति, विष्णु और रुद्र को विशेष महत्त्व दिया गया। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के समन्वित रूप—हिन्दुओं की त्रिमूर्त्ति की कल्पना का बीज—जिसका विकास पुराणों में विशद रूप से हुआ—यजुर्वेद में मिलता है। ऋग्वेद के सूक्तों में यद्यपि विष्णु और रुद्र सुप्रसिद्ध हैं, तथापि उन्हें इन्द्र, अग्नि, सूर्य अथवा वरुण के समान श्रेष्ठता नहीं प्राप्त है और प्रजापति तो बहुत गौण हैं। परन्तु यजुर्वेद में इन सभी देवताओं को—विशेष रूप से प्रजापति को—विशिष्ट स्थान प्राप्त है, जब कि ऋग्वेद के बड़े-बड़े देवता इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम और सूर्य कुछ-कुछ पीछे छूट गये हैं। बहुधा प्रजापति की तो प्रशंसा उन्हें देवताओं में उत्तम कहकर की गई है, और उन्हें देववर्ग में प्रमुख स्थान दिया गया है।

"जिनकी अपेक्षा कोई अन्य देवता अधिक बलशाली नहीं है, जिन्होंने सत्ताधारी सभी जीवों को व्याप्त कर लिया है, वे

प्रजापति अपनी सन्तति में आह्लादित होते हुए, षोडशी रूप से तीनों महाज्योतियों का संरक्षण करते हैं[१]।"

सृष्टिकर्त्ता एवं सभी प्राणधारियों—अर्थात् देवों और मनुष्यों—के पिता के रूप में प्रजापति की पौराणिक कल्पना यजुर्वेद में बहुत स्पष्ट है।

"हम प्रजापति की सन्तति हैं[२]।"

"प्रजापति गर्भ में संचरण करते हैं; वे अजन्मा होते हुए भी नाना रूपों में उत्पन्न होते हैं[३]।"

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ के साथ प्रजापति का निश्चित रूप से तादात्म्य हुआ है।

"किसके द्वारा स्वर्गलोक दृढ़ीभूत है और पृथ्वी मजबूती से स्थिर है? किसके द्वारा प्रकाश का क्षेत्र और आकाश स्तंभित है? वायव्य लोकों की माप किसने की? हम हविष् के द्वारा किस देवता की उपासना करें[४]?"

स्रष्टा के रूप में जल की पौराणिक कल्पना का बीज—जिस जल से प्रथमतः प्रजापति उत्पन्न हुए और जिनसे फिर समग्र विश्व का सर्जन हुआ—यजुर्वेद में भी मिलता है।

"ओजस्वी स्वयम्भू ने महान् जल-विप्लव में प्रथमतः गर्भ का आधान किया, जिससे प्रजापति उत्पन्न हुए[५]।"

इसी प्रकार यजुर्वेद में रुद्र देवता के चित्रण में बहुत सी बातें जुड़ गई हैं। ऋग्वेद में तो रुद्र का चित्रण बहुत साधारण

---

१. ८.३६; २. ६.२१; ३. ३१.१९; ४. ३२.६; ५. २३.६३।

हुआ है। रुद्र एक अभिधान-विशेष है, जिससे वायु या मरुत् कभी-कभी अभिहित हुए हैं। परन्तु यजुर्वेद में रुद्र स्पष्टतः एक प्रधान देवता बन गये हैं। यहाँ उन्हें एक सजीव और निश्चित रूप दे दिया गया है। यह कहा जा सकता है कि इस समय तक किसी अन्य देवता को इतना विशिष्ट मूर्तरूप नहीं दिया गया है जितना कि रुद्र को। उनका वर्णन तो हाथ में धनुष और बाण लिए हुए पर्वतों में भ्रमणशील शिकारी के रूप में किया गया है।

"हे पर्वत-मध्य-चारी! आप जिस बाण को चलाने के लिए हाथ में धारण किये हुए हैं उसे मंगलमय बनाइये। हे पर्वत स्वामी! उससे मनुष्य या किसी संचरणशील पदार्थ को हानि न पहुँचाइये[१]।"

"प्रत्यञ्चा उतरे हुए धनुष के साथ, मढ़े हुए दंड के साथ जिस पर चर्म का परिधान है....[२]।"

"किसी सुदूर वृक्ष पर अपना आयुध निक्षिप्त कीजिए, और चर्ममय-परिधान को धारण कर पधारिए, अपना धनुष लिये हुए यहाँ आइये[३]।"

उन्हें चिकित्सक भी कहा गया है, जो गौ, अश्व और मनुष्यों को रोगमुक्त करनेवाले हैं।

"आप नीरोग करनेवाली ओषधि हैं, गौ अश्व और मनुष्य के लिए तापहारी भेषज हैं[४]।"

सर्पों को पराजित करनेवाले के रूप में भी उनका वर्णन हुआ है।

---

१. १६. ३ ; २. ३. ६१ ३. १६. ५१ ; ४. ३. ५६ ।

"उस अग्रणी, प्रथम दिव्य भिषक् ने सारे सर्पों को नष्ट करके हमारी रक्षा की है[१]।"

यह बहुत ही विचित्र बात है कि रुद्र देवता की स्वरूप-कल्पना में कुछ भयंकर विशेषण जुड़ गये हैं। ऋग्वेद में भी रुद्र का वर्णन एक भयानक और उग्र देवता के रूप में किया गया है; वे भयंकर तूफान की उग्रता के प्रतीक माने गये हैं। पर यजुर्वेद में इस भयावह आकृति पर एक विलक्षण ही रंग चढ़ा दिया गया है। यहाँ "वे चर्मधारी हैं, एक मढ़ा हुआ दंड धारण किये हैं और एक धनुष लिए हैं, जिसकी प्रत्यञ्चा उतरी हुई है।" यह तो असम्भव नहीं है कि इन विचित्र कल्पनाओं के विकास का कारण है रुद्र का किसी अनार्य देवता के साथ तादात्म्य या सम्मिश्रण। यद्यपि अभी तक पौराणिक त्रिमूर्त्ति के विनाशकारी—तृतीय देवता—का स्थान उन्हें प्राप्त नहीं है, तथापि इस तथ्य की ओर संकेत तो प्रत्यक्ष ही है। देवताओं में वे सबसे अधिक भयंकर हैं, जिनसे कि मनुष्य दूर रहना चाहते हैं।

"रुद्र का आयुध दूसरी ओर चला जाय और हमें छोड़ दे, इन क्रोधन देवता का कोप हमें परिहृत करे[२]।"

"हे दयालो! हमें विना हानि पहुँचाये आप विदा हों[३]।" परन्तु रुद्र केवल भयंकर देवता ही नहीं हैं, उनका एक दूसरा भी रूप है—बहुत ही सुखद, सुन्दरतम और सबसे अधिक मंगलमय।

---

१. १६.५; २. १६.५०; ३. ६१।

"सुन्दरतम, बहुत ही मंगलकारी आप हमारे लिए कल्याण-कारी और सर्वथा अनुकूल हों[१] ।"

शिव की अनेक विशेषणात्मक उपाधियाँ नीलग्रीव, शितिकंठ पशुपति, गिरीश, भवशर्व इत्यादि यजुर्वेद में पाई जाती हैं। इनके संबंध में एक मनोरंजक बात यह भी मिलती है कि रुद्र इस समय तक एक ऐसे देवता के रूप में स्वीकृत हो चुके थे, जिनकी कृपा कन्याओं को वर की प्राप्ति करा देती है।

"हम सुगन्धित पुष्पों द्वारा वर के खोजनेवाले रुद्र की उपासना करते हैं[२] ।"

यजुर्वेद में ही रुद्र के साथ पौराणिक देवी अम्बिका सम्बद्ध हो चुकी थीं, पर यहाँ वे रुद्र की स्वसा (बहन) के रूप में लक्षित हैं, न कि उनकी पत्नी के रूप में, जैसा कि पुराणों में आया है।

"हे रुद्र ! यह आपको ही अर्पित भाग है। अपनी स्वसा अम्बिका के साथ, इसे कृपया स्वीकार करें[३] ।"

यजुर्वेद में विष्णु का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। विष्णु का उल्लेख बार-बार आता है। इनके अन्य नामों में एक नाम है उरुगाय*। अर्थात् 'दूर-गामी'[४] ।"

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के इन्द्र, अग्नि और सोम की भाँति अन्य प्रधान देवताओं का महत्त्व पूर्ण स्तर यजुर्वेद में

---

१. १६.५१ ; २. ३.६० ; ३. ३.५७ ; ४. ८.१।

* अँग्रेजी अनुवाद में 'उरूगा' लिखा है, पर मंत्रपाठ में 'उरुगाय' है।

काफी गिर गया है प्रायः इन्द्र का वर्णन देवताओं के प्रधान के रूप में नहीं हुआ और वे युद्ध संबंधी देवता के रूप में योद्धाओं में अग्रगण्य माने गये हैं।

"हे इन्द्र! अपने पराक्रम द्वारा विशिष्ट रूप से प्रसिद्ध स्थविर, श्रेष्ठ योद्धा! शक्तिशाली एवं भयंकर! विजयी! सबको अभिभूत करने वाले! विजय की ही सन्तान! मनुष्यों और योद्धाओं से बढ़कर! पशुओं को जीत लाने वाले*! अपने जयनशील रथ पर आरूढ़ हों[१]।"

यजुर्वेद में इन्द्र क्षत्रियों के संरक्षक देवता हैं, जिस प्रकार बृहस्पति ब्राह्मणों के! इन्द्र द्वारा वृत्र-वध का और जल के उन्मुक्त करने का वृत्तान्त भी जो ऋग्वेद में अनेक बार दोहराया गया है—यजुर्वेद में भुला दिया गया है। निस्सन्देह ऋग्वेद की अपेक्षा, यजुर्वेद में इन्द्र का स्थान—अपेक्षा कृत अथवा एकान्ततः कम महत्त्व पूर्ण है।

यही बात अग्नि के सम्बन्ध में भी है। वह नैसर्गिक और काव्यमयी झाँकी, जो ऋग्वेद में उसे प्राप्त थी, यजुर्वेद में तिरोहित हो गई है। वह केवल भावात्मक देवता—यज्ञ संबंधी बिचवानी, देवताओं का दूत रह गया है।

सोम के महत्त्व का ह्रास तो और भी स्पष्ट है। यहाँ हवनीय द्रव्य के रूप में भी उसका प्राधान्य नहीं है। यजुर्वेद के काल में मुख्य हवनीय पदार्थ 'आज्य' हो गया है।

---

१. १७. ३७।

* मूल में 'Kine-winner' शब्द है जो वेदमंत्र में आये हुए गोविद् का अशुद्ध अनुवाद है।

"नदियों के समान हमारे हवनीय द्रव्य (अग्नि में) गिरते हैं। मैं प्रवहणशील घृत-धाराओं को देखता हूँ[१]।"

ऐसा मालूम होता है कि जब आर्य लोग पर्वतीय प्रदेशों से दूर चले आये, तब सोम दुष्प्राप्य पदार्थ हो गया। अतः उसके स्थान में कोई दूसरा पदार्थ ढूँढ़ना अपेक्षित था। इस तरह आज्य ने सोम का स्थान ले लिया।

"*अपने प्राचीन गौरव के बाद उन साहसी लोगों ने, सहस्रों दक्षिणा पाने वाले ऋषि से, उज्ज्वल दुग्ध को प्राप्त किया[२]।

मूल सूक्त के अनुसार साहसी लोग सोम का रस निकालने वाले हैं और ऋषि ही सोम है। परन्तु महीधर ने अपने यजुर्वेद भाष्य में, यज्ञ सम्बन्धी प्रकरण के अनुरोध से, इन शब्दों का अर्थ 'दोग्धा' और 'गौ' किया है।

ऋग्वेद के प्रधान देवता 'अश्विन्' और 'उषा' का उल्लेख यजुर्वेद में बहुत ही कम हुआ है। हाँ, सविता देवता का उल्लेख अक्सर हुआ है। ये सभी यज्ञों को प्रोत्साहित करने वाले देवता बन गये हैं।

"हे सविता देवता! आप हमारे यज्ञ को प्रवर्त्तित करें, और यज्ञपति को उसका यज्ञ-भाग प्राप्त करावें[३]।"

"सविता देवता की प्रेरणा से[४]"—यह वाक्यांश यजुर्वेद

---

१. १३. ३८.; २. ३. १६ ; ३. ६. १ ; ४. १. १० ।

* यह अर्थ मूल मन्त्र के अनुसार नहीं है, प्रत्युत भ्रामक है—(अनु०)

में अधिकतर आता है, जिससे यज्ञों का आरम्भ होता है। कभी-कभी तो देवताओं के मध्य में सविता का स्थान सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

"हे अमृत-पुत्रो ! जिन्होंने दिव्य धामों में आश्रय लिया है, आप सुनें ! कौन से दिव्य लोक हैं ?,

दूसरे देवताओं ने अपने बल से किसके प्रयाण और महिमा का अनुसरण किया है ? जिन्होंने अपने पराक्रम से पृथ्वी और द्यौ को नाप डाला है, वे सविता देवता ही हैं[१]।"

हिन्दुओं की दैनिक प्रार्थना के प्रसिद्ध मंत्र-गायत्री-का देवता सविता ही है। यह मंत्र ऋग्वेद (३·६२·१०) में है। यजुर्वेद में भी आया है—

"हम सविता देवता के वरेण्य भर्ग का ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धि को (ज्ञान की ओर) प्रेरित करें"[२]।

ऋग्वेद के कृष्ण वर्ण ऐश्वर्य शाला देवता वरुण का स्वरूप भी यजुर्वेद में बहुत कुछ मंद पड़ गया है। यहाँ इनका विशेष सम्बन्ध जल से माना गया है इसमें ही पुराणों के "समुद्र-देवता वरुण का आभास मिलता है। 'अश्विन्' देवता भी देवताओं के वैद्य के रूप में लक्षित होते हैं।

"हे अग्नि देवता ! देवताओं के वैद्य अश्विन ने अपनी महती शक्ति से, मृत्यु को हमसे दूर भगा दिया है[३]"।

पुराणों की अनेक कल्पनाएँ और विचार यजुर्वेद में मिलते हैं। इस दृष्टि से यजुर्वेद में (ऋग्वेद की अपेक्षा) विचारों का

---

१. ११. ५-६ ; २. ३. ३५ ; ३. २०. ३ ।

विकसित रूप उपलब्ध होता है। किसी विशेष महत्त्वशाली देवता का प्रादुर्भाव इसमें नहीं हुआ। जो इने-गिने नाम—जैसे कि स्कन्द शुक्र, वेन, मर्क, मंथिन् (अध्याय७) अहिंबुध्नीय ※ (११·१९) शुन और शिव (१२·६९)—यहाँ आये हैं उनका कोई निश्चित स्वरूप नहीं निर्धारित है। चौबीसवें अध्याय में ऋतुएँ, मास, दिन, रात्रि देवकोटि में शामिल कर लिये गये हैं, पर ऋग्वेदोक्त देवताओं की संख्या यहाँ भी ३३ ही मानी गई है। केवल एक स्थान पर देवताओं की संख्या ३०० लिखी है।

दूसरी ओर, उपनिषदों का 'एक देव वाद' एक निश्चित और तर्क संगत भूमिका पर आ गया है। यद्यपि उपनिषदों में आया हुआ ब्रह्म या आत्मा शब्द अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है, तथापि एकेश्वरवाद की कल्पना स्पष्ट रूप से व्यक्त हो गई है। कभी-कभी प्रजापति ही परमेश्वर माना गया है। जैसा कि उपनिषदों में उल्लेख है, परमेश्वर का निर्देशक 'तत्' शब्द है, जो ऋग्वेद गत भावना की ही अनुवृत्ति है।

"अग्नि 'तत्' है; सूर्य 'तत्' है; वायु और चन्द्रमा 'तत्' हैं शुक्र 'तत्' है; ब्रह्म 'तत्' है; वे जल और प्रजापति 'तत्' हैं[1]।"

अन्तिम अध्याय में, विश्व में व्याप्त एक ईश्वर की उपनिषद् की कल्पना का पूर्ण विकास मिलता है।

※ यह नाम ११.१९ में नहीं आया है। मन्त्र का हवाला ठीक नहीं है (अनुवादक)

१. ३२.१।

"जगत् में जो कुछ भी संचरणशील है, उस सब में ईश्वर व्याप्त है[१]।"

यथार्थ में एक प्रधान उपनिषद् का यह आदिम मंत्र है। यह भी संभव है कि यह अध्याय पीछे से जोड़ा गया हो। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उपनिषदों के अनेक सारगर्भित विचारों एवं गम्भीर भावनाओं का आभास उत्तर वैदिक काल में मिल जाता है।

यजुर्वेद की नैतिक भावनाएँ ऋग्वेद की भावनाओं से बहुत बढ़ी-चढ़ी हैं। पाप और अपराध सम्बन्धी भाव स्पष्टतया विशद रूप से व्यक्त हो चुके हैं, और यजुर्वेद के मंत्रों में उच्चतर नैतिक जीवन की सच्ची आकांक्षा सुव्यक्त है। यद्यपि ऋग्वेद की भाँति धन, दीर्घजीवन और बहु सन्तति के लिए की गई प्रार्थनाओं की परम्परा यजुर्वेद तक भी चली आई है, परन्तु ऋग्वेद की अपेक्षा उनकी संख्या कम है। प्रत्युत ज्ञान, अपराधों की क्षमा तथा अमरत्व जैसे आध्यात्मिक पदार्थों के लिए की गई प्रार्थनाएँ बहुत अधिक हैं। "हे बृहस्पति, हे सविता, आप इस पुरुष को ज्ञान की ओर उन्मुख करें[२]।"

"आप तेज हैं, मुझे तेज दें; आप वीर्य हैं, मुझे वीर्य दें; आप बल हैं, मुझे बल दें; आप ओज हैं, मुझे ओज दें; आप मन्यु (कोप) हैं, मुझे मन्यु दें; आप पराक्रम हैं, मुझे पराक्रम दें[३]।"

---

१. ११. १ ; २. २७.८ ; ३. १६. ६ ।

ये सभी प्रार्थनाएँ नीचे लिखी प्रार्थनाओं की अपेक्षा उच्च-कोटि की हैं।

"हमारे पुत्र के लिए बहुत धन दें। हमारे प्रपौत्र के लिए बहुत धन दें, हमारे निवास-स्थलों के लिए बहुत धन दें[१]।" यजुष् के रचयिताओं ने एक उच्चसत्ता की झलक पा ली है। उन्होंने पृथ्वी की भूमिका के ऊपर स्वर्ग पा लिया है।

"हमें ज्योति की प्राप्ति हो गई है और हमने अमृतत्व को पा लिया है। पृथ्वी से हम स्वर्ग में आ गये हैं और देवताओं को स्वर्ग और प्रकाश को पा गये हैं[२]।"

यजुर्वेद में नैतिक आदर्श की उन्नति का एक और स्पष्ट प्रमाण यह है कि उसमें हमें पाप के स्वरूप का बोध अधिक स्पष्ट मिलता है एवं उसे क्षमा कराने के सम्बन्ध में सच्ची प्रार्थनाएँ भी मिलती हैं।

"यज्ञ द्वारा हम उन सभी पापों का नाश करते हैं, जिन्हें हमने ग्राम में अथवा अरण्य में, सभा में या शरीर के सम्बन्ध में किया है[३]।"

"देवताओं के प्रति किया गया पाप मैं देवताओं के साथ प्रक्षालित करता हूँ, एवं मनुष्यों के प्रति किया हुआ पाप मनुष्यों के साथ[४]।"*

अनेक स्थलों पर यही प्रार्थना कुछ अधिक विस्तार के साथ दोहराई गई है।

---

१. ऋ. वे. ८.६८.१२ ; २ ८.५२ ; ३. ३.४५; ४. ३.४६।

* मूलमन्त्र का जो हवाला (३.४६) दिया गया है, वह भ्रामक है। ३.४६ का यह अर्थ नहीं है—(अनुवादक)

"आप देवताओं के प्रति अपराध के नाशक हैं, मनुष्यों के प्रति अपराध के नाशक हैं, पितरों के प्रति अपराध के नाशक हैं, आत्मा के प्रति अपराध के नाशक हैं, प्रत्येक प्रकार के अपराध के नाशक हैं। ज्ञाताज्ञात सभी अपराधों के नाशक हैं[१]।"

"यदि हमने दिन में अथवा रात्रि में पापकर्म किये हैं, वायु हमें उनसे तथा समस्त पापों से मुक्त करें। यदि जाग्रत् अवस्था में या सुषुप्ति में हमने पाप किये हैं, सूर्य हमें उनसे एवं समग्र पापों से मुक्त करें। जो भी पाप हमने ग्राम में या अरण्य में, सभा में या इन्द्रिय-द्वारा. शूद्र के प्रति या आर्य के प्रति या दोनों* में से किसी की हानि (?) की हो, उसके आप नाशक हैं[२]।"

"हे आप ! जो कुछ निन्द्य और कलुष हो, उसे आप प्रक्षालित करें। मैंने जो भी पापकर्म किये हों, आपः मुझे उनके अपराध से छुड़ावें और पवमान मुझे मुक्त करें[३]।" 'द्रुपद* से छूटे हुए की नाईं, या प्रस्वेदयुक्त पुरुष के स्नान से मल-रहित हुए की नाईं, अथवा छानने पर पवित्र हुए आज्य की नाईं, आपः (जल) मुझे पाप से मुक्त करके स्वच्छ करें[४]।"

१. ८. १३; २. २०. १५-१७; ३. ६. १७।
४. २०. २०।

* मूलऋचा में "यदेकस्याधिधर्मणि" पाठ है जिसका अंग्रेजी अनुवाद भ्रामक है। इसी आधार पर यह हिन्दी अनुवाद है।

* मूलमन्त्र के 'बाध' शब्द का अंग्रेजी में 'food' अनुवाद भ्रामक है (अनुवादक)

इस प्रकार के उद्धरण पाप के सम्बन्ध में एक बहुत ही गंभीर और सजीव भावना को एवं पाप से छूटने की उत्कट इच्छा को व्यक्त करते हैं। प्रत्यक्षतः ऋग्वेद की सारल्यपूर्ण नैसर्गिकता पीछे छूट चुकी है। नैतिकता की भावना तीव्रता से समुत्तेजित हो चुकी है, एक नवीन चेतना का विकास हो चुका है, और यथार्थता और आदर्श के बीच का अन्तर स्पष्ट हो चुका है। यहाँ हम ऋषियों को धन और सन्तति के लिए प्रार्थना करते हुए नहीं पाते; प्रत्युत उनके यज्ञ-संबंधी मंत्रों में प्रकाश एवं पवित्रता की सच्ची अभिलाषा मिलती है

"हे देव सविता ! आप हमारे यज्ञ को प्रेरणा दें; यजमान को ऐश्वर्य के लिए प्रेरित करें। परचित्त के ज्ञान और इच्छा को पवित्र करनेवाले दिव्य गन्धर्व (सूर्य देवता) हमारे चित्त-गत ज्ञान को पवित्र करें। वाचस्पति हमारे भोजन * को सुमधुर करें[१]।"

"हे अग्नि ! हमें दुश्चरित से सुचरितभाक् करें[२]।"

उपनिषदों की जो सारगर्भित एवं गंभीर विचारधाराएँ हैं—जो कि भारतीय धर्मों की अत्यावश्यक तथा विशिष्ट आधारशिलाएँ हैं—उनका पूर्वाभास यजुर्वेद में मिलता है। अन्तर्जगत् की महत्ता की ओर यहाँ ऋषियों का ध्यान आकृष्ट होने लगा है। यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के आरंभ में जो ६ विलक्षण ऋचाएँ हैं, वे ठीक ही उपनिषद् मान ली

* उवट और महीधर ने इस शब्द का अर्थ 'पादुका' किया है। अंग्रेजी में इसका अनुवाद 'stake' किया गया है। (अनुवादक)

१. ११. ७ ; २. ४. २८ ।

गई हैं। इन मंत्रों में मन को "प्रजाओं में अन्तर्भूत उत्कृष्ट चेतन[१]" कहा गया है।

"प्रजाओं के भीतर जो अमृतज्योति है,[२] ....।"

"जिसके द्वारा समग्र शाश्वत पदार्थ जाने जाते हैं, जैसा कि संसार है, और जैसा कि होगा[३]....।"

"जो दिव्य है और जो मनुष्य की जागृत अवस्था में दूर-गामी होता है एवं सुषुप्तावस्था में उसके पास वापस आ जाता है, जो प्रकाश का भी प्रकाश है और दूरगामी है[४]।"

"जिसमें ऋक्, यजुष् और सामन् प्रतिष्ठित हैं, जैसे कि रथनाभि में आरा[५]।"

इससे अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से मानव-मस्तिष्क का गौरव नहीं उद्घोषित किया जा सकता है।

निम्नलिखित उद्धरणों में देवताओं के साथ ऐक्य की भावना की झाँकी भी मिलती है।

"मैं ऊपर द्युलोक में हूँ, मैं नीचे पृथ्वी पर हूँ। अन्तरिक्ष मेरा पिता था। मैंने सूर्य को ऊपर और नीचे दोनों ओर से देखा। जिसे देवता गोपनीय रूप से उत्कृष्ट मानते हैं, वह मैं हूँ[६]।"

सत्यानृत का भेद भी यहाँ (यजुर्वेद में) भली-भाँति स्पष्ट है। सत्कर्म के लिए पारितोषिक और दुष्कर्म के लिए दण्ड की व्यवस्था भी स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है। जो

१. ३४. २; २. ३४. ३; ३. ३४. ४; ४. ३४. १; ५. ३४. ५; ६ ८. ४५।

लोग सत्कर्म करते हैं, वे उच्चलोक में जाते हैं और जो दुष्कर्म करते हैं, वे नीचे के लोक में जाते हैं।

सत्कर्म करनेवाले जहाँ जाते हैं वहीं स्वर्ग है।

"वह (देवता—इन्द्र—) हमारे सभी आह्वानों को सुने, जो साधुकर्मा पुरुषों को उनकी सहायता के लिए मंगल-दायक है।"

इसी तरह अधोलोक या नरक है जहाँ पापकर्म करनेवालों को जाना पड़ता है।

"जो हमें हानि पहुँचाने की दुश्चेष्टा करते हैं, उन्हें नरक के अन्धकार में डालिए[१]।"

स्वर्ग में सभी प्रकार के सुखद पदार्थ हैं। 'कर्मवाद' और 'पुनर्जन्मवाद' के सिद्धान्तों का अभी तक स्पष्टतया विकास नहीं हो पाया है। देवताओं द्वारा सत्कार्यों का स्वीकरण अग्नि की मध्यस्थता से ही हो सकता है।

"उत्कृष्ट स्वर्गलोक में आप इन यजमान को पहचानें। समान भूमिका पर स्थित आप इन्हें पहले जान लें। जब ये देवयान-मार्ग द्वारा आवें तब इन्हें इष्टापूर्त का फल प्रकाशित करें[२]।"

परन्तु अब तक अन्यान्य योनियों में एक जन्म में किये गये कर्मों के फल का पूर्ण और निर्धारित ब्योरा उपलब्ध नहीं है। यजुर्वेद में परलोक-संबंधी विचार वही हैं जो ऋग्वेद में हैं।

१. ८.४४; २. १८.६०।

अध्याय ५

सामवेद

है इस पादप पर विहग एक।
जीवन-सुख में जो रहा नाच।
कोई न जानता थल उसका।
उसके गाने की टेक भला—
होगी क्या ? इसे कौन जाने।

—कबीर।

सामवेद, जो वैदिक साहित्य का तृतीय ग्रन्थ है, धार्मिक विचारों के विकास के जिज्ञासु के लिए अल्प महत्त्व का है। यह मुख्यतः ऋग्वेद [के ही मन्त्रों] का संगीतात्मक चयन है। यद्यपि इसे एक पृथक् और स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है; फिर भी यह अधिकांशतः ऋग्वेद के ही मन्त्रों का संग्रह-मात्र है। सामवेद के १५४९ मन्त्रों में से केवल ७८ मन्त्र ऋग्वेद में नहीं पाये जाते। शेष मन्त्र ऋग्वेद के विभिन्न भागों से कुछ परिवर्तन के साथ संगृहीत हैं। ये सब ऋग्वेद के ही देवताओं से सम्बन्धित हैं और परस्पर या ऋग्वेद के ऋषियों की

कृतियाँ हैं और उनमें भी अधिकांशतः मन्त्र वामदेव की रचनाएँ हैं। इनसे वेदमन्त्रों के संग्रह पर विशेष प्रकाश पड़ता है। यह स्पष्ट है कि ऋषियों की समग्र काव्यात्मक रचना ऋग्वेद में संगृहीत नहीं की जा सकी। वर्तमान ऋग्वेदसंहिता में उपलब्ध सूक्तों के अतिरिक्त पर्याप्त संख्या में अन्य सूक्त अवश्य होंगे जो किसी न किसी कारणवश इस संग्रह में नहीं लिये जा सके। उनमें से सम्भवतः कुछ मन्त्र बाद की रचना होंगे। परन्तु उनका वहिष्कार केवल कालविज्ञान (Chronology) के आधार पर नहीं किया जा सकता; क्योंकि सामवेद के प्रायः कुछ भागों में उसके अर्वाचीन संग्रह होने के चिह्न पाये जाते हैं। ऋग्वेद से कुछ पाठभेद के साथ लिये गये मन्त्र, जो इसमें मिलते हैं, ऋग्वेद की अपेक्षा प्राचीन एवं मौलिक नहीं हो सकते।

अभी तक इसके संग्रहकर्त्ता की जन्मतिथि और उसके जीवन के विषय में कोई जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी है। सामवेद वैदिक धर्म का एक स्तुतिग्रन्थ है। इसके विषय का अधिकांश, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऋग्वेद से लिया गया है। इसके दो मन्त्र यजुर्वेद में भी पाये जाते हैं। इसके संकलन के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं दिखाई पड़ता है। सामवेद के प्रथम भाग (पूर्वार्चिक) * में अधिकतर सूक्त ऋग्वेद के विभिन्न भागों से ली गई एक-एक ऋचा के योग से बने हैं। सम्पूर्ण संग्रह में

* यहाँ प्रथम भाग से ग्रन्थकार का आशय पूर्वार्चिक से है—अनुवादक

ऐसा कम देखा जाता है कि पूरा का पूरा सूक्त ऋग्वेद से लिया गया हो। नीचे दिया हुआ सूक्त सामवेद के प्रथम भाग (पूर्वार्चिक) की रचना-प्रणाली का एक नमूना प्रस्तुत करता है—

प्रथम भाग (पूर्वार्चिक)

प्रपाठक २, दशति ६

"इन्द्र ने जिसके हनु शक्ति-शाली हैं, देव-यजन में रत सुदक्ष ऋषि के यव के साथ सिद्ध किये गये सोमरस को पी लिया है[१]।"

"हे प्रचुर धन सम्पन्न देव! (इन्द्र!) इन स्तुतियों ने तुम्हारा आह्वान किया है, जिस प्रकार कि गायें वत्स के प्रति शब्द करती हैं[२]।"

"तदनन्तर उन्होंने चन्द्रमा के गृह में सृष्टा ऋषि के रहस्यात्मक नाम को पहिचाना[३]।"

"जब शक्तिमान् वीर इन्द्र ने धाराओं अर्थात् प्रचुर जल को प्रच्युत किया, तो उस समय पूषा उनके निकट खड़े हुये थे[४]।"

"गायों ने जो उदारचेता मरुद्गणों की प्रस्रवण करती हुई मातायें हैं, उनका रथ खींचा[५]।"

---

१. सामवेद २. ६. १ तथा ऋ० वे० ८. ९२. ४;
२. „ २. ६. २ „ „ ६. ४५. २५;
३. „ २. ६. ३ „ „ १. ८४. १५;
४. „ २. ६. ४ „ „ ६. ५७. ४;
५. „ २. ६, ५ „ „ ८. ९४. १।

"हे हर्षातिशय के स्वामी! आप बभ्रुवर्ण वाले अश्वों के साथ हमारे हविष् के पास आवें। हमारी हविष् को स्वीकार करिये[१]।"

"तुम्हारे द्वारा दी गई वीर्यवती आहुति ने अवभृथ स्नान पर्यन्त यज्ञ में बलात् इन्द्र को भेज दिया है[२]।"

"मैंने अपने पिता से ऋत का गंभीरज्ञान प्राप्त किया है। मैं सूर्य के समान [तेजस्वी] उत्पन्न हुआ था[३]।"

"इन्द्र के साथ वह सभी शक्तिवर्धक वस्तुओं से समृद्ध होना चाहता है। हम अन्न में समृद्धि को प्राप्त हो सुखोपभोग करें[४]।"

"जो देवताओं की ओर गमन करता है, उसे सोम और पूषा, जो उसके प्रति कृपालु हैं, सुरक्षित और सुखमय स्थान दें[५]।"

द्वितीय भाग (उत्तरार्चिक) रचना प्रणाली में इसकी अपेक्षा कम असम्बद्ध है। इसके बहुत से भाग में एक साथ ऋग्वेद के एक ही सूक्त से लिये गये तीन-तीन मन्त्रों का सन्दर्भ हैं; यद्यपि कहीं-कहीं क्रम में उलट फेर हो गया है। नमूने के लिये पंचम प्रपाठक के प्रथम अर्ध के निम्न अंश लिये जा सकते हैं—

---

१. सामवेद २. ६. ६ तथा ऋ० वे० ८. ६३. ३१।
२. ,, २. ६. ७ ,, ,, ८. ६३. ३३।
३. ,, २. ६. ८ ,, ,, ८. ६. १०।
४. सामवेद २. ६. ६ तथा ऋ० वे० १. ३०. १३।
५. ,, २. ६. १० तथा यह ऋग्वेद में नहीं।

मं० १० मन्त्र १ "हम इस इन्द्र को वृत्र का वध करने के लिए अत्यधिक शक्तिशाली बनाते हैं, ताकि वह एक सामर्थ्यवान् वीर हो जाय।"

मन्त्र २ "यह इन्द्र जो [स्तोता को] पुरस्कार देने के लिये बनाया गया है, ओजस्वी प्रकाशवान् सोमार्ह और स्तुत्य (श्लोकी) हो गया है।"

मन्त्र ३ "वज्रवत् [शक्तिशाली] स्तुति के द्वारा जिसे कोई प्रच्युत न कर सके, ऐसा वह उग्र और अजेय हो गया है *।"

मं० ११ मन्त्र १ "हे अध्वर्यु ! पाषाणों के द्वारा सुत सोम को दशा पवित्र (falter) में लाओ और इन्द्र के पीने के लिये इसे पवित्र करो।"

मन्त्र २ "हे इन्द्र ! यह देवता और मरुद्गण तुम्हारे इस पवमान सोम का रस पान करें।"

मन्त्र ३ "[हे अध्वर्यु लोगों !] वज्रबाहु इन्द्र के लिये द्युलोक के दुग्ध—सोम रस को प्रस्रवित करो जो अत्यन्त उत्तम और सुमधुर है।"×

परन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं कि सामवेद भारत की विविध प्रकार की धार्मिक उथल-पुथल पर कोई नवीन प्रकाश नहीं डालता, अतः हम इस विषय पर और अधिक विचार न कर इसे यहीं समाप्त करते हैं।

---

* ऋ० वे० ८. ९३. ७. ८. ९; × ऋ० वे० ९. ५१. १. ३. २।

टिप्पणी—मूल ग्रन्थ अंग्रेजी अनुवाद में ऋग्वेदीय मन्त्रों का स दर्भ प्रायः भ्रमात्मक है। अतः उसे यहाँ शुद्ध करके लिखा गया है।

अध्याय ६

अथर्ववेद

मैं देख रहा हूँ हाथ एक।
जिसको न सको तुम देख कभी,
जो इंगित करता मुझे दूर ॥

वैदिक साहित्य का अन्तिम ग्रन्थ अथर्ववेद है। यह ७३० सूक्तों का एक संग्रह है; जिसमें ६००० मन्त्र हैं; और जो २० काण्डों [ह्विटनी के सम्पादित संस्करण के अनुसार १९] में विभाजित है। सम्पूर्ण सूक्तों का लगभग छठा भाग, जिसमें दो काण्ड (१५ और १६) भी सम्मिलित हैं, गद्य में लिखा गया है, जो भाषा और शैली में ब्राह्मणों के समान है। शेष भाग पद्यात्मक है जो साधारण वैदिक छन्दों में है। सूक्तों के रचयिता के विषय में कोई मौलिक परम्परा नहीं दिखाई पड़ती। अथर्ववेद और ऋग्वेद के दशम मण्डल में विशेष साम्य है। मृतक सम्बन्धी ऋचाएँ ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में समान हैं।

अथर्ववेद का संग्रह अन्यवेदों की अपेक्षा, बाद का है,

क्योंकि हम इसमें ऐसे मन्त्र पाते हैं जिनमें अन्य तीनों वेदों का नामोल्लेख है, यद्यपि इसका विषय उतना ही या उससे भी अधिक प्राचीन है, जितना कि ऋग्वेद का है।

"जब कि मैंने ऋक् साम और यजुः से क्रमशः हविष् ओज और बल के विषय में पूछ लिया है, तो हे शक्ति के अधिष्ठाता इन्द्र! यह वेद हमें हिंसा न पहुँचाए[1]।"

पन्द्रहवाँ काण्ड विषय और शैली की दृष्टि से पूर्णतः ब्राह्मणों की भाँति है और यह सब गद्य में है। नवाँ काण्ड तीन बड़े विभाजनों का परिशिष्ट सा है, और स्पष्टतः बाद में जोड़ा गया है।

अथर्ववेद में ६३ मन्त्रों की पृथ्वी की सुन्दर कवितामयी स्तुति है। यह बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त है जो अत्यन्त नैसर्गिक है और हमें इस पृथ्वी ग्रह का विस्तृत रूप से निरीक्षण करा देता है।

"जिसमें समुद्र, नदियाँ, जल, अन्न तथा कृषि के लिए उपयोगी क्षेत्र (कृष्टि) उत्पन्न हुए तथा जिसमें सभी प्राणी संचरण करते हैं और क्रियाशील हैं, वह पृथ्वी हमें सर्वप्रथम बसने दे[2]।"

अथर्ववेद के सूक्त, तीन बड़े-बड़े विभागों में विभाजित किये जा सकते हैं, जिनमें से प्रथम दो तो कविताओं की लम्बाई पर आधारित हैं और अन्तिम भाग विषय के ऐक्य पर प्रथम विभाग में जिसमें १ से लेकर ७ काण्ड हैं,

---

१. अ० वे० ७. ५४. २; २. अ० वे० १२. १. ३।

विविध विषयों से सम्बन्धित छोटे-छोटे सूक्त हैं; जब कि द्वितीय में, जो ८ वें से लेकर १२ वें काण्ड तक है, विभिन्न विषयों के बड़े-बड़े सूक्त हैं। तृतीय में विषय साम्य के आधार पर सूक्तों का संग्रह है। इस प्रकार १३ वें काण्ड में सूर्य (रोहित), १४ वें में विवाह १५ वें में व्रात्य और १८ वें में मृतक सम्बन्धी सूक्त हैं।

यद्यपि अथर्ववेद का अन्तिम संग्रह अन्य वेदों की अपेक्षा निस्सन्देह बाद का होगा; परन्तु इसका कुछ अंश ऋग्वैदिक काल अथवा उससे भी पहले का होगा। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि बाद के उपनिषदों के रचना काल तक धार्मिक साहित्य में अथर्ववेद की मान्यता नहीं हुई थी। हम प्रायः तीन ही वेदों का उल्लेख पाते हैं। उदाहरणात :—

"उसने उस वाणी और शरीर के द्वारा उसको उत्पन्न किया, जो कुछ स्थित है, जैसे ऋक्, यजुः, साम, छन्दस्, यज्ञ, मनुष्य और पशु[1]।"

अथर्ववेद में हम ऋग्वेद से नितान्त भिन्न वातावरण पाते हैं। यद्यपि इसके सूक्त और मन्त्र ऋग्वेद की ही शैली पर इतस्ततः बिखरे हुए हैं; परन्तु सर्वतो व्याप्त वातावरण राक्षस, पिशाच तथा रोगों के विरुद्ध जादू और मन्त्र ही का है। अति संख्यक सूक्त, मन्त्र और ओषधि के द्वारा रोगों के निवारण के लिए हैं—

"यदि दण्ड, वाण अथवा अग्नि ज्वाला से व्रण उत्पन्न हो जाता है, तो तुम उसकी उपचारभुता हो। अतः

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ३. १९. ७।

[हे लाक्षा वनस्पति !] तुम इस मनुष्य का उपचार करो[१] ।"

ऐसा प्रतीत होता है कि यह मन्त्र और जादू प्राचीन सभ्यता के प्रतीक हैं। हो सकता है कि वह प्राचीन आर्यों के द्वारा उपयोग में लाये गये हों अथवा भारत के आदि निवासियों से लेकर अपने में मिला लिये गये हों। कृत्या और पिशाचों में विश्वास तथा उनसे भय करना अथर्ववेद का महत्त्व पूर्ण विषय है। ऋग्वेद के देवता कभी-कभी इनसे रक्षा करने के लिये आहूत किए जाते थे। जीवन के विविध दूषणों से अथर्ववेद के मन्त्रकारों का विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। उन्होंने जादू और मन्त्र के रूप में उनके लिए उपचार बताया है। अनेक सूक्त मन्त्र और जादू के प्रयोग में दृढ़ विश्वास रखने की ओर संकेत करते हैं—

"इस रक्षा मणि के द्वारा इन्द्र ने वृत्र का वध किया और इसी के द्वारा उस मनस्वी ने असुरों का पराभव किया। इसी से उसने पृथ्वी और द्यौ को विजित किया और इसी के द्वारा चारों दिशाओं को जीता[२] ।"

"यह प्रतीवर्त (backturning), ओजस्वी तथा सर्वजित् मणि जो सम्यक् रूप से रक्षा करने में समर्थ है हमारी सन्तति और धन की रक्षा करे[३] ।"

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रथम उद्धरण में मणि का प्रयोग इन्द्र से सम्बन्धित है। अतः इस प्रकार मणि और जादू के प्रयोग की प्रथा वैदिक देवताओं के साथ जुड़

---

१. अ० वे० ५. ५. ४ ; २. अ० वे० ८. ५. ३ ;
३. अ० वे० ८. ५. १९ ।

जाती है। यही कारण है कि अथर्ववेद ने धीरे-धीरे वेदत्व को प्राप्त कर लिया। जैसा कि पहले कहा गया है, यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि बहुत समय तक अथर्ववेद वैदिक साहित्य के बाहर रहा।

मूल अथर्ववेद सम्भवतः जादू और मन्त्र के प्रयोगों की कला से सम्बन्धित था; परन्तु कुछ समय में इसने वैदिक देवताओं को आत्मसात् कर लिया; जो इन्हीं बुराइयों के विरुद्ध आहूत किये गये थे। दूसरे वेदों के कुछ अंश अथर्ववेद में मिलाये गये और इन्हीं की शैली के आधार पर नवीन मन्त्रों की रचना हुई जो इसी में मिला दिये गये। इस प्रकार अन्ततोगत्वा इसने वेद पद को प्राप्त किया।

बहुत से ऋग्वेद के देवता अथर्ववेद में पुनः दिखाई पड़ते हैं; परन्तु उनके चरित्र में विशेष परिवर्तन हो गया है। ऋग्वेद के प्राकृतिक आलोक (Naturalistic glow) का यहाँ पूर्णतः लोप है। यहाँ इन्द्र, अग्नि, वायु तथा रुद्रादि देवता काल्पनिक हो गये हैं और राक्षसों आदि के विनाश के लिये आहूत किये जाते हैं। जैसे—

"राक्षसों का संहारक तथा रोगों का विनाश करनेवाला अग्निदेव, प्रवंचक यातुधान तथा किमी दिनों को दग्ध करता हुआ यहाँ आ गया है। हे देव! तू यातुधानों को भस्म कर दे, किमी दिनों को जला दे। हे कृष्णवर्त्मन्! प्रतिकूल आचरण करनेवाली राक्षसियों को तू नष्ट कर दे[1]।"

---

1 अ० वे० १. २८. १, २।

"हे इन्द्र ! तू स्त्री और पुरुष यातुधानों को प्रसन्नतापूर्वक अपनी माया से नष्ट कर दे[१] ।"

बहुत से सूक्त, राजयक्ष्मा, ज्वर, वात तथा कुष्ठ आदि रोगों से रक्षा करने के लिये स्तुतियाँ थीं।

"जब अग्नि प्रज्वलित हुई और जल में प्रविष्ट हुई तो धर्म के धारण करनेवालों ने उसे प्रणाम किया। उसे (जल को) सदा की भाँति लोग परम उत्पत्ति स्थान मानते हैं। हे तक्यन् ! हमारी स्तुति को स्वीकार कर हमें बचा दे[२] ।"

"आसुरी ने सर्वप्रथम कुष्ठ का नाश करने के लिए इस ओषधि को बनाया। इसने हमारे कुष्ठ को दूर कर त्वचा को समान वर्णता प्रदान की[३] ।"

"[हे ओषधे !] कुष्ठ को दूर कर श्वेत धब्बों को मिटा दे। तुझमें तेरा ही स्वाभाविक वर्ण प्रवेश करे ! श्वेत धब्बों को तू दूर कर दे[४] ।"

उस समय श्वेत कुष्ठ बहुत प्रचलित दिखाई पड़ता है। यही हाल राजयक्ष्मा का भी था जो बहुत भयानक था। अथर्ववेद में बहुत से मन्त्र यक्ष्मरोग के उपचार विषयक देखे जाते हैं—

"हे यक्ष्म ! तू यहाँ से चला जा; जिस प्रकार एक युवा शिशुक (Fowl) वेग से दूर चला जाता है[५] ।"

"मैं तेरे यक्ष्मा को तेरे हाथों, अँगुलियों तथा नखों से दूर भगाता हूँ। प्रत्येक अंग, बाल, पर्व जहाँ यह है और जो त्वचा

---

१. अ. वे. ८. ४. २४ ; २. १. २५. १ ; ३. १. २४. २ ; ४. १. २३. २ ; ५. ६. १४. ३ ।

में भी समा गया मैं उसे कश्यप ऋषि के मन्त्र-प्रभाव से दूर करता हूँ[१] ।"

"सम्पूर्ण रोग जो तेरे ललाट को ग्रस्त करते हैं, हम उसे अपने जादू से ठीक करते हैं, ताकि यक्ष्मा तेरे कर्ण और-मुख से दूर हो जाय[२] ।"

"पशुओं तथा हमारे मनुष्यों के यक्ष्मा के साथ [हे यक्ष्म !] तू यहाँ से दक्षिण की ओर चला जा । हम इसके द्वारा सम्पूर्ण श्लेषात्मक रोगों और मृत्यु को दूर करते हैं[३] ।"

"यह मनुष्य यक्ष्मारोग से मुक्त हो जाय; जिसे देवताओं ने भेजा है । इन वनस्पतियों का पिता द्यौ था और माता पृथ्वी थी तथा इनका मूल समुद्र था[४] ।"

स्पष्ट है कि यह मन्त्र मणियों आदि के धारण करने के समय जिनमें विविध प्रकार की ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, काष्ठखंड एवं शंख आदि थे, पढ़े जाते थे । जैसे—

"यह फाल मणि हमारे लिए विश्वसनीय वर्मरूप होगी[५] ।"

"हिरण्यस्रुक से अलंकृत यह मणि हमें श्रद्धा, यज्ञ और शक्ति देगी तथा हमारे गृह में अतिथि के समान रहेगी[६] ।"

"मनीषी ऋषि के समान इस साक्त्यमणि की सहायता से मैंने प्रत्येक युद्ध में विजय पाई है । मैं शत्रु-सैन्य और राक्षसों का विनाश करता हूँ[७] ।"

१. २. ३३. ६-७ ; २. १०. ८. ३ ; ३. ८. २. १, २ ; ४. अ० वे० ७. ७. २ ; ५. अ. वे. १०.६. २ ; ६. अ. वे. १०. ६.४ अ. वे. ८.५.८ ।

अथर्ववेद के बहुत से सूक्त यातुधान तथा कृत्या के लिए जादू की भाँति प्रयोग के लिए हैं।

"हे देव ! स्वर्ण-शृंखला की भाँति इस कृत्या से उसके प्रयोक्ता ही को बाँध दे। तू कृत्या को उसके प्रयोक्ता के पास पुनः हाथ पकड़ कर ले जा। जिस प्रकार अच्छी नाभिवाला रथ पीछे की ओर लुढ़क जाता है, उसी प्रकार कृत्या, कृत्या भेजनेवाले की ओर लौट जाय[१]।"

"जैसे ऋण को ऋण से चुकाते हैं और कृत्या को कृत्या करनेवाले के घर भेजते हैं, उसी प्रकार [हे अञ्जन !] तू दुष्ट हृदय शत्रु की पार्श्व-अस्थियों को काट डाल, जिसकी क्रूर दृष्टि हमारा अमंगल करती है[२]।"

"हिमाच्छादित त्रिककुद्वाले पर्वत पर उत्पन्न यह अञ्जन सभी यातुधान और यातुधानियों को नष्ट कर देता है[३]।"

"देवताओं की अस्थि कृशन (शंख अथवा मोती का उत्पादक घोंघा बन गई। आत्मा से युक्त हो यह जल में घूमती है। मैं इसे आयु, वर्चस्, बल तथा सौ शरद् ऋतुओं तक जीवित रहने के लिए तेरे बाँधता हूँ। यह शंख तेरी रक्षा करे[४]।"

"समुद्र से मणि उत्पन्न हुई और वृत्र से दिवाकर। यह (शंख-मणि) देवता और असुरों के उपद्रवों से हमारी रक्षा करे[५]।"

इनके अतिरिक्त और भी अनेक सूक्त हैं जो स्त्री के लिए

१. अ. वे. ५.१४.३-५ ; २ अ. वे. १६. ४५.१ ; ३. अ. ४.६.६ ; ४. अ. वे. ४. १०-७ ; ५. अ.वे. ४. १०. ५ ।

पुरुष के प्रेम को और पुरुष के लिए स्त्री के प्रेम को प्राप्त कराने में समर्थ हैं। जैसे—

"तुम मेरे होगे और मेरे ही होकर रहोगे। तुम अन्य स्त्रियों का उल्लेख मत करो। यदि तुम नदियों के पार सुदूर मनुष्यों से भी बहुत दूर हो तो यह ओषधि तुम्हें बाँधेगी और अपने वश में कर लेगी[1]।"

"मनु से प्राप्त इस वस्त्र के द्वारा मैं तुझे आच्छादित करता हूँ, ताकि तू मेरा होकर रहे, अन्य स्त्रियों का चिन्तन न करे[2]।"

"यह अप्सराओं का जयनशील अप्रतिहत स्मर मन्त्र है। हे देवताओ! इसको उसके पास भेजिये। ताकि वह काम पीड़ित होकर मेरे अनुकूल हो जाय[3]।"

"शिर से पैर तक मैं तेरे ऊपर उत्कट काम की व्यथा को पहुँचाता हूँ। हे देवताओ! स्मर को भेजो, जिससे मेरे प्रति उसका प्रेम उसे संतप्त कर दे[4]।"

"[हे कामिनि!] तेरा हृदय मेरे प्रति काम से परितप्त हो जाय, और तेरा मुख भी सूख जाय। तू काम से संतप्त और सूखकर मेरे अनुराग के कारण शुष्क अधरोंवाली होकर जा[5]।"

"जिस प्रकार अश्वों का राजा बड़वा को अपने पीछे खींचता है, उसी प्रकार तू मुझे खींच ले। अथवा जिस प्रकार

१. अ. वे. ७. ३६. ४०९; २. अ. वे. ७. ३७. १; ३. अ. वे. ६. १३०. १; ४. अ. वे. ६. १३१.१; ५१. ६. १३९. २।

तृण, जिसे वात्या और वायु ने छिन्न-भिन्न कर दिया है, भ्रमित होता है, उसी प्रकार तेरा मन मुझसे आवेष्टित हो जाय[१]।"

"[हे कामिनि !] मेरे शरीर की कामना कर मेरे चरणों से प्रेम कर और मेरे नेत्रों तथा जंघाओं की चाह कर। हे कामिनि ! तेरे दोनों नेत्र तथा केश मेरे प्रति प्रेम के कारण सूख जायँ। मैं तुझे बाहुओं और हृदय से आसक्त करता हूँ। तू मेरी अभिलाषा के आधीन है और मेरी इच्छा के अनुकूल अपने को समर्पित करती है। अतः तुझे हमारी इच्छा के अनुकूल विनम्र होना चाहिए। जिनका चुम्बन एक बन्धन है, जिनके हृदय में वशीकरण है, घृत की मातृरूप गायें, स्त्रियों को मेरे प्रति वशीभूत करें[२]।"

इस प्रकार यह देखा जाता है कि अथर्ववेद में सर्वतोव्याप्त वातावरण जादू, कृत्या, मणि और मन्त्र आदि का है। यदि धार्मिक भावनाओं से केवल आध्यात्मिक तत्वों का आशय लिया जाय, तो अथर्ववेद आधुनिक अनुसन्धान के लिए कुछ भी महत्त्व का नहीं रहता है। परन्तु श्रद्धा और विश्वास का जो समुचित भाव वैदिक काल में बहुत बड़े मनुष्यवर्ग में विद्यमान था, उसके दृष्टिकोण से भारत के धार्मिक विकास के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इसके अतिरिक्त और बहुत से सूक्त हैं, जो साधारण गृह-सम्बन्धी और सामाजिक क्रियाओं और उत्सवों से सम्बन्धित

---

१. ६. १०२. २; २. अ. वे. ६. ६. १. २, ३;

हैं। जैसे—विवाहसंस्कार[१], मृतक संस्कार[२], नये गृह का निर्माण एवं संस्कार[३] तथा राजा का निर्वाचन[४]। परन्तु इनमें से कुछ ऋग्वेद से लिये गये हैं—सम्भवतः अथर्ववेद के संग्रह को वेदों में स्थान देने के लिए।

---

१. अ. वे. १४. १ और २ ; २. अ. वे. १८. १, २, ३ तथा ४ ; ३. अ. वे. ४. ३. ७ और ८. ६०. ४ ; ४. अ. वे. ४. २२. १ ; ४. ८. १ ।

अध्याय ७

ब्राह्मण

"वास्तविक भूतकाल व्यतीत नहीं होता। अतीत में जो समीचीन था, वह भी हमसे दूर नहीं होता। सत्य (अथवा अच्छाई) जिसका मनुष्य ने पालन किया है, कभी नष्ट नहीं हो सकता, अपितु वह इस समय भी जीवित है और चाहे उसे स्वीकार किया जाय या नहीं, अनन्त परिवर्तनों के बीच भी वह जीवित और क्रियाशील रहेगा।"

(कार्लाइल)

वेदों के पश्चात् हम उस साहित्यिक विभाग में आते हैं, जिसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। ये ग्रन्थ भी अत्यधिक प्राचीन हैं और इनकी प्रतिष्ठा भी पर्याप्त है। हिन्दुओं की धारणा के अनुसार ये मूलभूत श्रुति के अंश माने जाते हैं और वैदिक संहिताओं के बराबर ही इनका प्रामाण्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व, शैली और स्वरूप की दृष्टि से वे वेदों से उतना ही भिन्न हैं, जितना कि दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव। जब कि वैदिक संहिताएँ मुख्यतः सौंदर्य की उत्कृष्ट कोटि की काव्या-

त्मक कृतियाँ हैं और काव्य प्रवण हृदय की स्वाभाविक उद्गार रूपिणी हैं, एवं भाषा की दृष्टि से भी प्रायः कलात्मक भावाभिव्यक्ति की उच्च भूमिका तक पहुँचती हैं, ब्राह्मण उपदेशात्मक तथा धार्मिक निपुणता की अरुचिकर और कृत्रिम अभिव्यक्ति ही करते हैं। वह केवल रूप से ही गद्यात्मक नहीं, अपितु विषय और आत्मा में भी वे पूर्णतः गद्यात्मक अर्थात् नीरस हैं। "पूर्व की पवित्र पुस्तकें" (Sacred Books of the East) नामक पुस्तकमाला में ब्राह्मण ग्रन्थ का एक अनुवादक यह कहता है—"सम्पूर्ण वाङ्मय में हिन्दुओं की प्राचीन आध्यात्मिक पुस्तकों के—जिन्हे 'ब्राह्मण' कहते हैं—अतिरिक्त, वाह्यदेशों के परिमित विशेपज्ञों में रुचि उत्पन्न करनेवाले ग्रन्थों की गणना बहुत कम होती है। गंभीर तर्क की अपेक्षा इनकी सैद्धान्तिक कट्टरता की और शिथिल प्रतीकवाद के रूप में परिलक्षित व्याख्या के क्लिष्ट विस्तार की शायद कहीं भी समानता नहीं मिलती[१]।" ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक संहिताओं का अपेक्षा बौद्धिक शक्ति, नवीनता और मौलिकता के क्षेत्र में अपना अत्यधिक अधःपतन प्रकट करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद के सूक्तों के गाये जाने के और ब्राह्मणग्रन्थों के रचनाकाल के बीच बहुत बड़ी अवधि का व्यवधान हो चुका था। मौलिकता, कल्पना और शक्ति का सुव्यक्त ह्रास सुदीर्घ काल का व्यवधान ही सूचित करता है, जिसमें आर्य जाति की बौद्धिक शक्ति का विशेष रूप से ह्रास हो चुका था। ब्राह्मणों

---

१. सक्रेड बुक् आव् दि ईस्ट, भाग १२, भूमिका, पृष्ठ १।

में इस मति की पुष्टि के अनेकों संकेत मिलते हैं। ब्राह्मणों में निर्दिष्ट भौगोलिक दशा ऋग्वेद की भौगोलिक दशा से भिन्न है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस समय तक आर्य लोग मगध के पूर्वी जिलों तक पहुँच गये थे। "इस समय इस नदी (सदनीरा) के पूर्व बहुत से ब्राह्मण हैं[1]।"

यहाँ वर्णित यह नदी सायण के अनुसार कसतीया का नामान्तर है। आर्यों का शनैः-शनैः पूर्व की ओर बढ़ना उनकी अत्यधिक अनिच्छा और दुराग्रह को सूचित करता है। अवश्य ही जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि ने आर्यों को सुदूर पूर्व और दक्षिण की ओर जाने के लिए विवश किया होगा। एक समय 'सदनीरा' नदी आर्यों के वासस्थान की सुदूरवर्तिनी पूर्वी सीमा थी। ऐसा मालूम होता है कि नदी के पूर्वी देशों में जाने में कुछ निषेध था और इस प्रतिबन्ध को शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल के समय आर्यों ने दूर किया था। "उस समय यह (सदनीर के पूर्व की भूमि) बहुत ही अनुपजाऊ और दलदली थी, क्योंकि वैश्वानर अग्नि के द्वारा इसका उपभोग नहीं किया गया था। इस समय यह अत्यधिक उपजाऊ है, क्योंकि ब्राह्मणों ने यज्ञ के द्वारा इसका उपभोग करने के लिए अग्नि को प्रेरित किया है[2]।" मैक्समूलर अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में ठीक ही कहते हैं "बहुत से विद्वानों के मत जिनका नाम इन ग्रन्थों में आया है यह बताते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ, बहुत समय तक एक के बाद एक क्रमशः आनेवाले पहले के ब्रह्मज्ञानी

---

१. श. ब्रा. १.४.१ ; २. श. ब्रा. १. ४. १. १५, १६ ।

और दार्शनिकों के संगृहीत विचारों का प्रकाशन करते हैं। परन्तु बहुत पहले के ऋषियों की एक ऐसी विचारधारा है जो ह्रासोन्मुख धर्म का साक्ष्य देती है। ब्राह्मणग्रन्थ अपने से पूर्ववर्ती ऋग्वेद के दशों मण्डलों के सम्पूर्ण संग्रह को, अत्यधिक जटिल यज्ञ-विधान तथा तीन अथवा चार पुरोहितवर्गों में याज्ञिक पदों के विभाजन को तो स्वीकार करते ही हैं, साथ ही भारतीय आर्यों का प्राचीन परम्पराओं से भी सम्बन्ध-विच्छेद करते हैं। उस समय जब कि कुछ सूक्तों के विभिन्न यज्ञाङ्गों में विनियोग का नियम निर्धारित हुआ था, तो उनका मौलिक अर्थ और देवताओं का वास्तविक स्वरूप, जिसको दृष्टि में रखकर वे सूक्त रचे गये थे, लुप्त हो चुका था। ऋग्वेद-संहिता का संग्रह निस्सन्देह ब्राह्मणों के रचनाकाल के बहुत पूर्व पूरा हो गया होगा और स्वाभाविक [देव-] पूजा का कृत्रिम यज्ञविधान में परिवर्तन धीरे-धीरे बाद में हुआ होगा। यह सब ब्राह्मणकाल के बहुत पूर्व हुआ था। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में आदि से अन्त तक वेदमन्त्रों के वास्तविक आशय के विषय में इतनी भ्रान्ति है कि हम कठिनता से समझ पाते हैं कि इस प्रकार की विभिन्नता कैसे हुई, जब तक कि उनकी परम्पराओं में किसी भी समय में सहसा बहुत बड़ा सम्बन्ध-विच्छेद न हुआ हो।"

ब्राह्मणग्रन्थ विविध यज्ञों, तत्सम्बन्धी कार्यों एवं प्रतीकों के स्पष्टीकरण का दावा करते हैं। अपने उद्देश्य और दृष्टि-कोण में वे पूर्णतया धार्मिक हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के रचयिता यज्ञों के विधि-विधान के अतिरिक्त जीवन के प्रति कुछ भी

अनुराग नहीं रखते। ऋग्वेद में काव्यमयी कल्पना की अपेक्षा यज्ञ गौण था। यद्यपि बहुत से मन्त्रों की रचना यज्ञ के निमित्त ही की गई होगी, तथापि ऋग्वेद में उनमें प्रतिभा का प्रकाश मौजूद है। ये (मन्त्र) निस्सन्देह कविप्रतिभा की सृष्टि हैं। उनमें मौलिकता और नवीनता की छाप है; जो मानव-समाज के वास्तविक काव्यसाहित्य में उनके लिये एक प्रतिष्ठित स्थान सुरक्षित कर देती है। परन्तु ब्राह्मण इस काव्यात्मक और कलात्मक योग्यता से पूर्णतः रहित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस युग में उनका प्रणयन हुआ था, वह युग उस काव्यात्मक दृष्टि को, जो कि ऋग्वेद की दिव्य दृष्टि थी, खो चुका था। ब्राह्मणों में कोई नया विचार नहीं है। वे यज्ञ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरणों के लिये प्रत्येक कृत्य से सम्बन्धित काल्पनिक व्याख्याओं के साथ विस्तृत और कृत्रिम शिक्षा देते हैं। ब्राह्मणों का विषय कैसा है यह कुछ उदाहरणों द्वारा भली भाँति जाना जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण दर्श-[पौर्णमास] याग की प्रारंभिक क्रियाओं के विधान का वर्णन करते हुए कहता है—"वह (अध्वर्यु) [गायों से] वत्सों को पर्णशाखा के द्वारा पृथक् करता है। पर्ण के द्वारा उन्हें पृथक् करने का कारण यह है कि जब गायत्री सोम की ओर उड़ी तो पादरहित एक धनुर्धारी ने, जो उसकी ओर निशाना लगाये बैठा था, गायत्री अथवा राजा सोम के एक पर्ण को उस समय काट दिया, जब कि वह उसे (सोम को) लिये जा रही थी। पृथ्वी पर गिरकर यह पर्ण (पलाश) वृक्ष हो गया, इसीलिये इसका नाम पर्ण

हुआ[१]।" अथवा अग्निष्टोम याग में दीक्षाविषयक शिक्षाओं में से निम्न अंश को लिया जा सकता है—"वह (अध्वर्यु) दक्षिण नेत्र में सर्वप्रथम अंजन लगाता है। यों तो लोक-रीति के अनुसार वाम नेत्र प्रथम आँजा जाता है, लेकिन देवताओं के सम्बन्ध में यह क्रिया इस प्रकार की जाती है। वह यह पढ़ता हुआ अंजन लगाता है—"तुम वृत्र के नेत्र हो, क्योंकि यह वृत्र ही का नेत्र है। तुम नेत्र देनेवाले हो; अतः मुझे भी नेत्र दो।" इसमें कुछ भी अस्पष्ट नहीं है। दक्षिण नेत्र में वह एक बार तो मंत्र-पूर्वक अंजन लगाता है और एक बार चुपचाप। और वाम नेत्र को वह एक बार मंत्र के साथ अंजित करता है और दो बार चुपचाप। इस प्रकार वह वाम नेत्र को श्रेष्ठ सिद्ध कर देता है। वाम नेत्र में पाँच बार अंजन क्यों लगाया जाता है, इसका कारण यह है कि यज्ञ का परिमाण वर्ष के परिमाण के समान है। अतः ऐसा करके वह वर्ष के पाँच विभाग कर उन्हें अधिकृत कर लेता है। इसीलिये वह पाँच बार अंजन लगाता है[२]।" अथवा ब्राह्मणों के एक बहुत बड़े भाग को प्रदर्शित करनेवाली सामग्री के एक नमूने के रूप में निम्न अंश को ले सकते हैं—"तदनन्तर [अग्नीध् से] औषट् बुलवाकर वह होता का

---

१. श० ब्रा० १. ७. १. १। पुस्तक में दिया हुआ सन्दर्भ अशुद्ध है—(अनुवादक)

२. श० ब्रा० ३. १. १. ३, १४, १० । यह सन्दर्भ भी अशुद्ध है—(अनुवादक)

निर्वाचन नहीं करता; क्योंकि यह पितृयज्ञ है, अतः वह होता को निर्वाचित नहीं करता, अपितु उसे तो पितरों को समर्पित कर देता है। वह कहता है—'हे होता! बैठो।' और यह कहकर बैठ जाता है। अपने स्थान पर बैठकर होता अध्वर्यु को आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार प्रेरित होकर अध्वर्यु दो स्रुवा लेता है और [अग्नि के] पश्चिम की ओर चलता है तथा चलकर और होता से 'श्रौषट्' बुलवाकर कहता है—'प्रज्वलित समिधाओं में आहुति डालने के मन्त्र पढ़ो'। वह प्रथमतः चार प्रयाजाहुति डालता है और उनमें से एक कुश पर छोड़ देता है; क्योंकि वर्हि का आशय सन्तति से होता है। इसीलिए वह एक को वर्हि पर छोड़कर पहली चार आहुतियाँ डालता है, अन्यथा उसे अपनी आहुतियाँ पितरों को ही अर्पित करनी चाहिए[1]।" जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, ब्राह्मणग्रन्थों की विशेषताओं के और भी उदाहरण हम पाते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि जब ब्राह्मणों का निर्माण हुआ, तो साधारण वैदिक यज्ञ, संख्या और जटिलता में बहुत बढ़ गये थे। यजुर्वेद का मौलिक यज्ञ-विधान इस समय पर्याप्त नहीं समझा गया था। अनेकों नये और बड़े-बड़े विवरणोंवाले यज्ञ प्रचलित हो गये थे; जिनकी प्रक्रियाओं को प्रत्येक ऋत्विक् के

---

१. श० ब्रा० २. ४. १. २४।

टिप्पणी—होता, अध्वयु आदि ऋत्विजों के विभिन्न पदों के वाचक हैं, जो यज्ञ में भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं।

द्वारा स्मरण रखना कठिन था। अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि उन विवरणों को एकत्र किया जाय। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। जैसे ऋत्विजों के विविध याज्ञिक विधानोंवाले विभिन्न सम्प्रदाय थे; वैसे ही अनेकों ब्राह्मण-ग्रन्थ भी बने। अतः इस समय आर्य जाति की आध्यात्मिक शक्तियाँ यज्ञों की विस्तृत प्रक्रियाओं तथा उनकी मौलिक सृष्टि के स्थान पर काल्पनिक व्याख्याओं की खोज में लगी हुई थीं।

प्रोफेसर एगेलिंग (Eggeling) का कथन है—"ब्राह्मण-ग्रन्थ एक धर्मपरायण जाति की आध्यात्मिक चेतना के प्रतिनिधि हैं; जिस जाति ने एक प्रतिभासम्पन्न और धार्मिक जाति के मनोभावों को बदलकर प्राचीन प्रकृतिपूजा को अत्यधिक कृत्रिम यज्ञविधान के रूप में परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त की, तथा पवित्रता और दैवी प्रेरणा के प्रकाश से अपने कार्य-कलाप को समाच्छन्न करके लोगों के मस्तिष्क पर अपने प्रभुत्व का सिक्का जमाने में समर्थ हुई।" जैसा कि प्रोफेसर एगेलिंग का विचार है हम पुरोहितवर्ग के प्रति कोई विशेष धारणा बनाये रखने की अपेक्षा नहीं रखते; क्योंकि बढ़ती हुई जटिलता यज्ञविधान की स्वाभाविक उपज थी। ब्राह्मण-ग्रन्थ उस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड ने लोगों के मन पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया था। यज्ञ ही मुख्य वस्तु थी, यहाँ तक कि देवता भी उसके आश्रित हो गये थे। यज्ञ की अपेक्षा देवताओं के लिये उतनी नहीं थी; जितनी कि देवताओं की यज्ञ के लिये।

ब्राह्मणों में यज्ञ, जो देवताओं को प्रसन्न करने आदि उद्देश्य की पूर्ति के साधन थे, लोगों के मुख्य विषय और जीवन-सर्वस्व हो चुके थे। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि देवता भी यज्ञ की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे। "यज्ञ देवताओं के बीच से चली गई। देवताओं ने उसे पुकारा, सुनो, हमारे पास आओ। उसने उत्तर दिया 'एवमस्तु' और देवताओं के पास लौट आई। वह उनके पास लौट आई; अतः देवताओं ने उसकी पूजा की और उसकी पूजा करने से वह देवता हुए और इस समय भी हैं[1]।" "इस प्रकार [अग्नि और सोम को वह] पुरोडाश देने से, इन्द्र वह हुए जो कुछ कि वे इस समय हैं।" इस भाँति पौर्णमास यज्ञ में आहुति की यह महत्ता है और "जो इसको जानता हुआ इस प्रकार पौर्णमास यज्ञ में आहुतियाँ देता है, वह समृद्धता की उसी अवस्था को प्राप्त करता है। वह यश से मण्डित होता है तथा अन्नाद होता है[2]।" इसी प्रकार महान् आहुति द्वारा देवताओं ने वृत्र को मारा तथा इस कृत्य के द्वारा उस प्रभुत्व को प्राप्त किया; जिसका कि उपभोग वे आज भी करते हैं[3]।" देवताओं ने पहले यह नहीं स्वीकार किया कि इन्द्र उनमें प्रथम और सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। "इन्द्र ने बृहस्पति से कहा, 'मेरे लिये द्वादशाह यज्ञ का निर्माण कीजिये।' बृहस्पति ने उनके लिये द्वादशाह यज्ञ बनाया।

१. श० ब्रा० ५. २. ६ ;   २. श० ब्रा. १. ६. ३. ५ ;
३. श० ब्रा० १. ६. २. १ ।

तब देवताओं ने उसे देवों में प्रथम और सर्वश्रेष्ठ माना[१]।" यज्ञ की महत्ता की यह परम्परा यहाँ तक बढ़ी कि यह तक कहा गया कि "यज्ञ यज्ञ के द्वारा समृद्ध हो[२]।"

यज्ञों की इस महत्ता के साथ-साथ उनकी संख्या और जटिलता भी बहुत बढ़ती गयी। ब्राह्मणकाल में दिन, सप्ताह, मास तथा वर्ष भर तक चलनेवाले यज्ञों का किया जाना मिलता है। ऋग्वेद की साधारण सोमाहुतियों के स्थान पर विविध भाँति की आहुतियाँ भी चल पड़ीं। यज्ञ का मुख्य हवनीय पदार्थ घृत प्रतीत होता है। "घृत निस्संदेह देवताओं को रुचिकर है[३]।" पुरोडाश, अज, अश्व और गायों की भी बलि दी जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में नरबलि का भी उल्लेख है। "मनुष्य की बलि पहले होना चाहिये; क्योंकि वह पशुओं में प्रधान है[४]।"

यज्ञों के विधान से सम्बन्धित सूक्ष्म और निरर्थक प्रक्रियाओं की महत्ता बढ़ी। अनिवार्य रूप से बड़ी धार्मिक मुस्तैदी होने लगी। साधारण प्रथा से थोड़ा भी अलग होना आपत्तिजनक समझा गया। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण कहता है कि ऋत्विक् को चाहिए कि विना परस्पर स्पर्श किये हुए स्रुवों से घी डाले। "यदि उसने एक स्रुव से दूसरे का स्पर्श किया, तो वह यज्ञ-कर्त्ता को उसके विद्वेषी शत्रु से स्पर्श करा देगा। वह यजमान को उसे नष्ट करनेवाली वस्तु से स्पर्श करा देगा। इसी कारण

---

१. ऐ० ब्रा० २. २. २. १४; २. श० ब्रा० ५. २. १४;
३. श० ब्रा० १. ७. २. १०; ४. श० ब्रा० ५. २. १. १८।

वह घी को विना [स्रुवों के परस्पर] स्पर्श किये डालता है। वह 'जुहू' को [उपभृत] के ऊपर रखता है। इस प्रकार वह यज्ञकर्त्ता को विद्वेषी शत्रु के ऊपर रखता है। वह दग्ध करनेवाले को दग्ध किये जानेवाले के ऊपर रखता है। इसीलिए वह जुहू को [उपभृत के] ऊपर रखता है[१]।" अथवा कोई (ऋत्विक्) 'वह [अयत् की] हविष् दे' इसके पहले देवता के नाम को जोड़ देता है।.........परन्तु उसे ऐसा न करना चाहिए; क्योंकि वह (ऋत्विक्) जो देवताओं को 'वह आहुति दे' इसके आगे करता है, यज्ञ का समुचित क्रम उलट देता है[२]।" अथवा एक अन्य उदाहरण लीजिये—"यहाँ कुछ आचार्यों के अनुसार अध्वर्यु आहवनीय के पूर्व से निकलता है। उसे ऐसा न करना चाहिए; क्योंकि यदि उसने पूर्व की ओर गमन किया तो वह यज्ञ से बाहर हो जायगा[३]।"

यज्ञ की प्रतिष्ठा के उत्कर्ष के साथ-साथ यज्ञों से अत्यधिक सम्बन्धित देवता अग्नि का प्राधान्य भी बढ़ जाता है। वह देवताओं में प्रथम—प्रधान देवता हो जाता है। "वह प्रजापति के द्वारा प्रथम बनाया गया[४]।" "अग्नि को आहुतियाँ सर्वप्रथम दी जाती हैं[५]।" इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से

---

१. श० ब्रा० १. ५. ३ ; (मूल पुस्तक में 'guha' शब्द अशुद्ध है इसे 'guhu' लिखना चाहिए।) २. श० ब्रा० १. ७. ३. १२ ; ३. श० ब्रा० १. ७. ३. १९ ; ४. श० ब्रा० २. २. ४. २ ; ५. श० ब्रा० २. २. २. १।

एक अंश को लेकर अग्नि को देवताओं में प्रथम सिद्ध कर देता है[१] । यहूदियों की पवित्र बड़ी नाव (Ark) की भाँति यज्ञाग्नि पवित्र वस्तुओं में भी पवित्रतम वस्तु का स्थान प्राप्त कर लेती है । यहाँ तक कि देवता भी इसे भय से देखते हैं । "उन्होंने (देवताओं ने) अमर अग्न्याधेय को देखा[२] ।" देवता भी अग्नि की पूजा के प्रति अपने देवत्व को ऋणी मानते हैं । वह प्रारंभ में असुरों की भाँति मरणशील थे, परन्तु अग्नि की सपर्या से वे अमर हुए । "तब देवताओं ने अपनी अन्तरात्मा में अग्नि को स्थापित किया और अमर तथा अजेय हुए एवं मरणशील, जीते जानेवाले अपने शत्रुओं को अभिभूत किया[३] ।" यहाँ तक कि वरुण, जो वैदिक देवताओं में सर्व प्राचीन हैं, अपना स्थान अग्नि को दे देते हैं। "अब वरुण ने राजसत्ता की कामना से इस अग्नि को स्थापित किया[४] ।" अग्नि की सपर्या करना प्रत्येक आर्य का प्रारंभिक कर्त्तव्य हो जाता है । "जैसे कि वह माता और पिता से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार अग्नि से भी । परन्तु वह, जो अग्निहोत्र नहीं करता, बिल्कुल जीवन धारण नहीं करता । अतः अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए[५] ।"

ब्राह्मणकाल में अग्निहोत्र प्रत्येक गृहस्थ की साधारण नैत्तिक पूजा हो गई है । अग्नि अत्यधिक घनिष्ठ मित्र और अभिभावक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है । यज्ञवेदी के साथ

---

१. ऐ० ब्रा० १. १. १. १ ; २. श० ब्रा० २. २. २. ८ ;
३. श० ब्रा० २. २. २. १४ ; ४. श० ब्रा० २. २. ३. १ ;
५. श० ब्रा० २. २. ४. ८ ।

एक परिचित मित्र का सा व्यवहार कितना मर्मस्पर्शी है। जब कभी गृहस्थ ग्राम-सीमा के बाहर यात्रानिमित्त जाता है, तो वह अग्नि से विदा लेने उसी तरह जाता है जैसे कि कोई पिता या मित्र से विदा लेने जाय। "जब वह यात्रा के लिये प्रस्थान करता है, तो पहले गार्हपत्याग्नि के पास जाता है और बाद में आहवनीय के पास। 'गार्हपत्य' के पास जाकर वह यह कहता है—"तुम मनुष्य के सखा हो, मेरी सन्तानों की रक्षा करो।" वह (गार्हपत्याग्नि) निःसन्देह सन्तानों की अभिभावक है। और इसीलिए वह उसकी प्रजाओं की रक्षा करती है। वह पुनः आहवनीय के पास जाता है और कहता है—"तुम प्रशंस्य हो, मेरे पशुओं की रक्षा करो।" वह निस्सन्देह पशुओं का अभिभावक है, अतः वह पशुओं की रक्षा करता है। इसके बाद वह [मौन धारण कर] पैदल या वाहन द्वारा प्रस्थान करता है और जिस स्थान को वह ग्राम की सीमा मानता है, वहाँ पहुँच कर अपना मौन भंग कर देता है। जब वह यात्रा से लौटता है तो उसी क्षण से पुनः मौन धारण करता है, जिस क्षण कि वह सीमा को देख लेता है। गृह में लौटने पर अग्नियों को अभिवादन कर लेने के पहले उसे घर में मौजूद किसी भी व्यक्ति के पास—चाहे वह घर में स्थित राजा ही क्यों न हो—न जाना चाहिए। पहले वह आहवनीयाग्नि के समीप जाता है और फिर गार्हपत्य के पास[१]

१. श० ब्रा० २. ४. १. ३, ७।

यज्ञों की श्रेष्ठता और उनकी बढ़ती हुई जटिलता के साथ-साथ ब्राह्मणवर्ण की स्थिति समाज में सुप्रतिष्ठित हो जाती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में हम जातिप्रथा को भली भाँति व्यवस्थित रूप में पाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह तीन उच्च जातियाँ मिलकर आर्यों के समुदाय को निर्मित करती हैं। यद्यपि शूद्र को एक पृथक् जाति के रूप में स्वीकार किया गया है, परन्तु वह आर्य-मंडली में अभी कोई स्थान नहीं रखता। "जातियाँ चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र[1]।" परन्तु एक पृथक् जाति के रूप में इस प्रकार के उल्लेख के अतिरिक्त शूद्र को कोई अधिक मान्यता अभी तक नहीं दी गई है। दूसरी ओर, वह सभी सामाजिक और सांस्कारिक अवसरों पर उपेक्षापूर्वक बहिष्कृत किया गया है। शूद्र यज्ञस्थान में प्रवेश नहीं कर सकता। "सभी कोई (अग्निष्टोम यज्ञ के मण्डप में) प्रवेश नहीं कर सकता, अपितु एक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही वहाँ प्रवेश कर सकता है, क्योंकि वही यज्ञ करने के लिए अधिकृत है[2]।" नवीन राजा के अभिषेक-संस्कार में[3] ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सम्मिलित हो सकते हैं; परन्तु शूद्र नहीं हो सकता। आर्यों की सामाजिक संस्था में शूद्र का कुछ भी महत्त्व नहीं है। "जहाँ तक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं, उतना ही संसार है[4]।"

१. श० ब्रा० २. १. १. ६ ; २. श० ब्रा० २. १. १. ६ ;
३. श० ब्रा० ५. ३. ५. १०-१४ ; ४. श० ब्रा० २. १. ४. १२ ।

ब्राह्मणकाल में जाति वंशानुगत हो चुकी थी और उसका आधार केवल व्यावसायिक नहीं रहा था। ऐसे भी ब्राह्मण थे, जो ऋत्विक् नहीं थे। "यज्ञ करानेवाले और न करानेवाले (ब्राह्मण) भी उसके कुल में रह रहे हैं[1]।"

ब्राह्मण और क्षत्रिय के बीच का संघर्ष भली भाँति शांत हो चुका था। समाज में सर्वोच्च स्थान की मान्यता के बदले उन्होंने अपने राज्याधिकार को छोड़ना स्वीकार कर लिया था। "ब्राह्मण राजत्व के लिए अनुपयुक्त है[2]।" लेकिन उनकी सांसारिक भूमिका पर यह हानि आध्यात्मिक लाभ विशेष के द्वारा दूर हो गई थी। पुरोहितपद को लगभग दैवी प्रतिष्ठा दे दी गई थी। ब्राह्मण वस्तुतः देवता कहे जाते हैं। "दो प्रकार के देवता होते हैं। निस्संदेह देवता तो देवता हैं ही पर ब्राह्मण भी देवता हैं—मानवीय देवता, जिन्होंने वेद का स्वाध्याय और प्रवचन किया है। इनका यज्ञ दो भागों में विभाजित है। यज्ञों में हविष् देवताओं को दी जाती है और दक्षिणा ऋत्विजों को—मानवीय देवताओं अर्थात् ब्राह्मणों को—जिन्होंने वेद का अध्ययन और अध्यापन किया है।....ये दोनों देवता जब तृप्त करा दिये जाते हैं, तो ये उसे (तृप्त करनेवाले को) स्वर्ग की प्राप्ति करा देते हैं[3]।" ब्राह्मण राजा के आधिपत्य के ऊपर स्थित है। "हे मनुष्यो! यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है। सोम ब्राह्मणों का राजा है। अतः

१. श० ब्रा० २. १. ४. ४ ; २. श० ब्रा० ५. १. १. २ ; ३. श० ब्रा० २. ३. ३. ११।

वह उस (राजा) के लिए प्रत्येक वस्तु को अन्न (भोज्य) बना देता है। वह केवल ब्राह्मण को छोड़ता है[१]।"

ब्राह्मणग्रंथ पुरोहितवर्ग के लिए जीवन-निर्वाह के साधन भी बताते हैं। यज्ञ में पुरोहित की दक्षिणा को विशेष महत्ता प्रदान की गई है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि पुरोहित को दक्षिणा देना उतना ही फलोत्पादक है, जितना कि यज्ञ-कर्त्ता को आनन्द की प्राप्ति कराने के लिए देवताओं को हविष् देना। पुरोहितों को पर्याप्त दक्षिणा दिये विना यज्ञ अपूर्ण रहता है; जब कि उन्हें उचित दक्षिणा देने से यज्ञ में जाने अथवा अनजाने किये गये सभी दोष दूर हो जाते हैं। "अतः जो कुछ यज्ञ में कमी होती है, उसे वह पुरोहितों को दक्षिणा देकर पूरी कर लेता है जिससे यज्ञ सफल हो जाता है। इसी कारण वह पुरोहितों को दक्षिणा देता है। वह ६ (गायें) दे, क्योंकि सम्वत्सर में ६ ऋतुएँ होती हैं और यज्ञ में प्रजापति ही सम्वत्सर है ! इस प्रकार जितना बड़ा यज्ञ है और जितना उसका विस्तार है, उतनी ही (दक्षिणाओं) के द्वारा वह उसे वीर्यवान् बनाता है। वह बारह (गायें) दे; क्योंकि सम्वत्सर में बारह मास होते हैं।........वह २४ दे, क्योंकि २४ सम्वत्सरार्ध वर्ष भर में होते हैं। पुरोहित की दक्षिणा का इतना ही परिमाण है, परन्तु वह अपनी श्रद्धा के अनुसार अधिक भी दे सकता है[२]।" पुरोहितों को स्वर्ण-दक्षिणा भी दी जाती है। "इस यज्ञ के लिए पुरोहित की

---

१. श० ब्रा० ५. ३. ३. १२; २. श० ब्रा० २. २. २. २-५।

दक्षिणा सुवर्ण है[१]।" परिणामतः पौरोहित्य एक व्यवसाय के रूप में चालू हो गया। इस व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों में स्वाभाविक ईर्ष्या के प्रमाण भी पाये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण यज्ञ में काम करते हुए पुरोहितों में पारस्परिक मैत्री भाव का विधान करता है "और जहाँ पदासीन पुरोहित पारस्परिक समझौते के साथ यज्ञसम्पादन करते हैं, वहाँ प्रत्येक कार्य नियमित रूप से होता है; वहाँ किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती। अतः इसी प्रकार यज्ञ का सम्पादन करना चाहिए[२]।"

यद्यपि ब्राह्मणों का मुख्य विषय याज्ञिक क्रियाकलापों के सम्बन्ध में अनावश्यक रूप से बड़े ही सूक्ष्म विधान का प्रतिपादन एवं मन्त्रों के वाक्यों और शब्दों की शिथिल काल्पनिक व्याख्या करना है, परन्तु वे ग्रंथ भारत के धार्मिक विचारों के विकास में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं; क्योंकि बाद के हिन्दूधर्म की बहुत सी प्रथाएँ और धारणाएँ अपने बीजरूप में ब्राह्मणों में ही पाई जाती हैं। ब्राह्मणग्रंथ वैदिक धर्म के उसी प्रकार से भाष्य हैं, जिस प्रकार कि वे पौराणिक धर्म के अग्रदूत हैं। वे वेदों और पुराणों को जोड़नेवाली बीच की कड़ी हैं। बहुत से पौराणिक आख्यान ब्राह्मणों में बिखरे हुए कथांशों के मूलाधार हैं।

ईश्वर की सृष्टा, पालक और संहारक के रूप में त्रिमूर्ति की अर्वाचीन हिन्दू-धारणा ने ब्राह्मणों में सुविकसित और

---

१. श० ब्रा० २. २. ३. २८; २. श० ब्रा० १. ५. २. ११।

निश्चित रूप को धारण कर लिया है। प्रजापति का स्वरूप और उनकी महत्ता अधिक स्पष्ट हो गई है। सृष्टि-विषयक बहुत से आख्यानों में—जो ब्राह्मणों में भरे पड़े हैं—प्रजापति निश्चित रूप से सृजन करनेवाले बताये गये हैं। वे केवल सृष्टा ही नहीं हैं, अपितु उन्होंने देवताओं में प्रधान पद को भी प्राप्त कर लिया है। देवता अपने पथ-प्रदर्शन के निमित्त और शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनका समाश्रय ग्रहण करते हैं।

ब्राह्मणों में विष्णु का स्थान भी महत्ता को प्राप्त हुआ है। पुराणों में वर्णित जगत् की उत्पत्ति के अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न आदि स्रोत ब्राह्मणों में पाये जाते हैं। असुरों ने आख्यायिकाओं के प्राणियों का रूप धारण कर लिया है, जैसा कि पुराणों में देखा जाता है। ऋग्वेद में वह आर्यों के घृणित शत्रु हैं और स्पष्टतः इस भूमि के आदिम निवासी हैं, जिनसे इन नवागन्तुकों को युद्ध करना पड़ा था और उन्हें जीतना भी। यजुर्वेद में भी वे असभ्य जातियों के रूप में पाये जाते हैं, यद्यपि वे बहुत सी काल्पनिक विशेषताओं से युक्त हो गये हैं।

परन्तु ब्राह्मणों में असुर कथाओं के प्राणी हो गये हैं, जो जन्म और चरित्र में देवता और मनुष्यों के बीच के हैं तथा जो देवताओं के साथ समानता का अधिकार रखते हुए युद्ध के लिए उनका आह्वान करते हैं और उनसे सफलतापूर्वक युद्ध करते हैं। "देवता और असुर दोनों प्रजापति से उत्पन्न हुए और एक बार इस यज्ञ के लिए युद्ध कर रहे थे[१]"

---

१. श० ब्रा० १. ५. ३.२ तथा १. ५. ४. ६।

"प्राचीन काल में देवताओं ने असुरों को जीतकर ऊर्ध्वलोक में स्थित स्वर्ग को अधिकृत किया[१]।"

इस प्रकार ब्राह्मणग्रंथों में यद्यपि वैदिक संहिताओं की अपेक्षा ओज और मौलिकता की दृष्टि से महान् ह्रास दिखता है, तथापि भारत के लोकप्रिय धर्म में इनका विशेष महत्त्व है। वे वैदिक और पौराणिक धर्मों को जोड़नेवाली कड़ी हैं।

---

१. ऐ० ब्रा० ३. १४. ४

अध्याय ८

उपनिषद्

"हम उन वस्तुओं का अवलोकन नहीं करते जो दृष्ट हैं, अपितु उनका करते हैं जो अदृष्ट हैं।"

भारत के धार्मिक विकास में दूसरा बड़ा युग-परिवर्तन उन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के समुदाय में दृष्टिगत होता है, जिन्हें हम उपनिषद् कहते हैं।

विचारों की प्रभावोत्पादकता, विचार-गाम्भीर्य और भावाभिव्यक्ति के सौन्दर्य में उपनिषद् मानवीय मस्तिष्क की अपूर्व उपज हैं। वे केवल भारत के ही धार्मिक विचारों में महत्त्वपूर्ण योग नहीं देते, वरन् संसार के धार्मिक साहित्य में भी उत्कृष्ट और स्थायी स्थान के अधिकारी हैं।

"उपनिषद्" शब्द—जो बहुत प्राचीन है—की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। शंकर के अनुसार "उपनिषद्" उप+नि+सद् के योग से बनता है, जिसका अर्थ यह है कि जो (ज्ञान) परमात्मज्ञान के प्रकाशन तथा संसार की कारण-भूत अविद्या की ग्रन्थियों के छेदन द्वारा अज्ञान को नष्ट कर

दे। इस प्रकार इसका आशय ब्रह्मज्ञान से होता है। इसकी रहस्यात्मकता और निगूढ़ महत्त्व की स्वीकारोक्ति में सभा का मतैक्य है। उपनिषदों की शिक्षाएँ कम से कम प्रारम्भिक दिनों में सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं थीं; अपितु उच्च विचारपूर्ण और उत्कृष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र में ही सीमित थीं। यद्यपि वे वेदों और ब्राह्मणों के प्रारम्भिक विचारों के स्वाभाविक एवं तर्कसम्मत विकास हैं, तो भी उपनिषद् राष्ट्रीय मस्तिष्क की मुख्य विचार-धारा की अपेक्षा उसकी एक पार्श्वधारा की भाँति हैं। जब कि आर्य लोगों की बहुत बड़ी संख्या वैदिक धर्म से संतुष्ट थी तथा ब्राह्मण-आख्यानों में, जो अन्ततोगत्वा पौराणिक कथाओं के रूप में विकसित हुए—आनन्द की प्राप्ति करने में संलग्न थी, तब आर्य-जाति की गंभीर मनःशक्ति ने साधारण मस्तिष्क को व्यस्त करने-वाले विषयों एवं आडम्बरपूर्ण कल्पनाओं से दूर विश्व के इस सर्वोच्च विचार को विकसित किया। उपनिषदों का मूलभूत विचार यह है कि यह विचित्र तथा नाना रूपात्मक जगत् मूलतः एक अविभाजित सत्ता है और इसकी तह में व्याप्त तत्त्व आत्मा है। सभी उपनिषद् इसी श्रेष्ठ विचार को प्रकट करने में और उसी के प्रतिपादन में प्रयत्नशील हैं। यह उपनिषद् की असलियत की एक निश्चित कसौटी है।

कालान्तर में बहुत सी रचनाओं ने उपनिषद्-साहित्य से सम्बन्धित रहने का आडम्बर रचा। यह समझना आसान है कि किस प्रकार बाद के लेखकों ने अपने ग्रंथों को उपनिषदों के समान महत्ता और प्रामाणिकता देने के लिए समुत्सुक होकर उन्हें

इन प्राचीन और सुसम्मानित ग्रंथों का ही नाम और रूप दे दिया, जो कि श्रुति के अंगभूत माने जाते थे। अनेक स्थलों में यह प्रतिरूपता इतनी चतुराई से ठीक बैठाई गई है कि उसे वास्तविक उपनिषदों से पृथक् करना आसान नहीं रह गया है। इस प्रकार बाद के अविवेचनापूर्ण काल में बहुत से हेय और भिन्न प्रकार के ग्रन्थ भी उपनिषद् मान लिये गये। अतः यह आवश्यक है कि इस तन्नामाख्यात विजातीय संग्रह से मौलिक और वास्तविक उपनिषदों को पृथक् कर दिया जाय। सबसे बड़ा संग्रह, जिसमें १०८ विभिन्न ग्रंथ हैं, 'मुक्तिक संग्रह' के नाम से विख्यात है और मूलतः दक्षिण से सम्बद्ध है। दूसरे संग्रह में जो 'नारायण-संग्रह' कहलाता है ५२ ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इँगलैंड के लब्धप्रतिष्ठ प्राच्य विद्या-विशारद कोलेब्रुक (Colabrooke) ने भी अपने संग्रह में ५२ ग्रंथों को स्वीकार किया है, जो उपनिषद्-प्रतिष्ठा में नारायण-संग्रहवाले ग्रंथों के पूर्णतः समान नहीं हैं। १७ वीं शताब्दी में केवल ५० विभिन्न रचनाओं ने उपनिषदों की प्रतिष्ठा को प्राप्त किया था। हमारे पास इसे सिद्ध करने के लिए एक बहुत ही रोचक और पूर्णरूपेण प्रामाणिक आधार है। मुगल-साम्राज्य का उत्तराधिकारी और शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह, जो अपने निश्शंक छोटे भाई औरंगजेब के द्वारा साम्राज्य और जीवन से वंचित किया गया था, उपनिषदों का एक बहुत बड़ा प्रशंसक था। उसने अपनी निजी देखरेख में उनका अरबी में अनुवाद कराया। इस संग्रह में ५० विभिन्न ग्रन्थ हैं।

उपनिषद् मूलतः ब्राह्मण, आरण्यक तथा कुछ वैदिक संहिताओं के अंतिम अध्यायों के भाग थे। इसीलिए उन्हें वेदान्त कहा जाता था। सातवीं शताब्दी तक उनको मूलस्थलों से अलग करके एक स्थान पर संगृहीत करने का कोई प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता है। उपनिषदों के महान् भाष्यकार शंकर भी अपने सामने उपनिषदों का कोई संग्रह रखते हुए नहीं प्रतीत होते। वह उन्हें तत् तत् ब्राह्मणों के अंतिम भाग मानते हैं। परन्तु इसके बहुत पूर्व इन विविध ग्रंथों के विषय की एकता स्वीकार कर ली गई थी। भारत के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य में ब्रह्मसूत्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में से एक ग्रंथ माना जाता है। इसे उपनिषदों की महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं का सारांश कहते हैं। प्राचीनता में यह तृतीय शताब्दी (ई०पू०) का है। ब्रह्मसूत्र में निश्चित रूप से निम्नलिखित दश उपनिषदों का उल्लेख हुआ है—छान्दोग्य, वृहदारण्यक, काठक, तैत्तिरीय, कौशीतकी, मुण्डक, प्रश्न, श्वेताश्वतर, ऐतरेय और जाबाल। ब्रह्मसूत्रों के अपने विख्यात भाष्य में शंकर अधोनिर्दिष्ट १४ उपनिषदों से उद्धरण देते हैं। छान्दोग्य ८०९; वृहदारण्यक ५६५; तैत्तिरीय १४२; मुण्डक १२९; काठक १०३; कौशीतकी ८८; श्वेताश्वतर ५२; प्रश्न ३१; ऐतरेय २२; जाबाल १३; महानारायण ९; ईश ८; पैंगी * ६; केन ५ (यहाँ दिये हुए अंक उन उपनिषदों के उद्धरणों

---

* मूल ग्रन्थ में उपनिषद् का नाम Paingi लिखा है, पर इस नाम का उपनिषद् उपलब्ध नहीं है।

की संख्या के द्योतक हैं। शंकर ने केवल निम्न उपनिषदों पर पृथक्-पृथक् भाष्य लिखे हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर।

ऐतिहासिक कालगणना के अनुसार तथा विचारों के विकास के परिणामस्वरूप उपनिषद् ब्राह्मणों के बाद आते हैं। ब्राह्मणों के अन्त में उनका मौलिक स्थान हिन्दुओं के धार्मिक विचारों के विकास में उनकी स्थिति को ठीक-ठीक सूचित करता है। यह ब्राह्मणकाल का अवसान था जब कि इस अद्भुत साहित्य ने अपना स्वरूप प्रकट करना प्रारम्भ किया था। आर्यजाति की आन्तरिक संवेदनायें वेदों और ब्राह्मणों के देवताओं के प्रति श्रद्धा से और उनकी सपर्या से अत्यधिक सन्तुष्ट नहीं थीं। उपनिषद् यद्यपि परम्परया वैदिक साहित्य के एक भाग के रूप में स्वीकृत हो चुके हैं, परन्तु वे वस्तुतः वैदिक धर्म के प्रति विरोध के रूप हैं। हमें ज्ञात है कि वैदिक ऋषियों ने विश्व में अतिसंख्यक देवताओं का साक्षात्कार किया और ब्राह्मण-ग्रन्थों ने इन देवताओं की परिचर्या निमित्त विवरणात्मक विधान प्रस्तुत किया। दूसरी ओर उपनिषदों का मुख्य विषय एकदेववाद है। एकेश्वरवाद की ओर विचारों का आन्दोलन, जो ऋग्वेद के उत्तर भाग में स्पष्ट है, उपनिषदों में दृढ़ और सुव्यक्त रूप से दिखाई पड़ता है। सभी उपनिषद् ईश्वर—जिसे ब्रह्म या आत्मा कहते हैं—की एकता की बलपूर्वक उद्-घोषणा करते हैं। प्रथमतः आर्यों ने उन भौतिक घटनाओं

(Physical Phenomena) के प्रत्येक वर्ग के आधाररूप में पृथक्-पृथक् देवताओं की कल्पना की जिन्होंने कि उनकी जिज्ञासा को जागृत किया था। सूर्य एक देवता थे और वायु तथा वर्षा आदि के भी देवता थे। परन्तु प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्पर्क से तथा अपनी गंभीर अन्तर्दृष्टि के द्वारा उन्होंने यह अनुभव किया कि वे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। वस्तुतः वे भिन्न और स्वतन्त्र देवता नहीं थे, अपितु एक ही सत्ता के विभिन्न प्रादुर्भाव थे।

इस प्रकार ऋग्वेद की बहुदेवपूजा ने उपनिषदों के एकेश्वरवाद को स्थान दिया। यह स्वीकार किया गया कि एक ही ईश्वर अग्नि, जल, ओषधि और वनस्पति में समाया हुआ है। वह निस्सन्देह विश्व में व्याप्त है[1]। [यहाँ] दृष्टिकोण पूर्णतः बदला हुआ दिखता है। ऋग्वेद में बाह्य जगत् ने आर्यों के कल्पना-क्षेत्र में हलचल उत्पन्न की थी। सूर्य, आकाश, मेघ, उषा, अग्नि ने उनके गंभीर आश्चर्य को जगाया और उन्होंने उनके लिए हविष् अर्पित की तथा प्रशंसात्मक सूक्त गाये। परन्तु हम देखते हैं कि उपनिषदों में आर्य-मस्तिष्क अन्तर्जगत् के रहस्यों से विशेषतः प्रभावित हुआ है। अब यहाँ भौतिक संसार की सजधज नहीं, प्रत्युत मानवीय मस्तिष्क के रहस्य ही ऋषियों के ध्यान को समाहित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। यह एक बहुत ही स्वाभाविक विकास है। आर्यों की विचारधारा की शैशवावस्था में बाह्य जगत् के अद्भुत दृश्यों ने

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषत् २. १७।

मनोविज्ञान के ज्ञात नियमों के अनुसार प्रथमतः आर्यों के ध्यान को आकृष्ट किया था। विचार-प्रणाली ने अभी मुड़ना नहीं सीखा था। अन्तर्दृष्टि अभी तक विकसित नहीं हो पायी थी; परन्तु कुछ समय पश्चात् विचारों के विकास के साथ आर्यों का मस्तिष्क अन्तर्जगत् के आश्चर्यों से प्रभावित हुआ और इस प्रकार लोगों की जिज्ञासा का केन्द्रबिन्दु बहिर्मुख से अन्तर्मुख हुआ। जर्मनी के एक प्रसिद्ध दार्शनिक इम्मन्युअल कांट (Immunuel Kant) ने घोषणा की कि "संसार की दो वस्तुएँ मस्तिष्क को सदा नूतन और क्रमशः संवर्धनशील प्रशंसा तथा विस्मय से आपूरित करती हैं। हम प्रायः बड़े गौर से उन पर विचार करते हैं। [वह हैं] बाहर का तारकित आकाश और अन्दर के नैतिक नियम (Moral laws)।" वैदिक काल में हिन्दू-मस्तिष्क ने परमात्मा का आविर्भाव सनक्षत्र नभ में देखा जब कि उपनिषत्-काल में उसने परमात्मा को अपने 'अन्दर' देखा। उपनिषत् ईश्वर को अनवरत रूप से अन्तरात्मा कहते हैं। इसी विचारधारा के स्वच्छन्दतापूर्वक आगे बढ़ने पर जीवात्मा का तादात्म्य विश्वात्मा से स्थापित हो गया और आत्मा ब्रह्म का सामान्यतया पर्यायवाचक हो गया।

उपनिषदों में हमें अत्यधिक बौद्धिक उथल-पुथल का युग दिखाई देता है। [उस समय] आर्यों के एक वर्ग के मस्तिष्क को तो पूर्ण रूप से अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण प्रश्न चल पड़े थे। प्रत्यक्षतः एक बहुत ही उच्चकोटि की संस्कृति भी स्थापित हो चुकी थी। गंगा के मैदानों में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् बिखरे पड़े थे जो सांसारिक वैभव के

प्रति उपेक्षा रखते हुए जीवन की गंभीर समस्यों के मनन में अपना जीवन बिताते थे। सुदूर स्थानों से जिज्ञासु उनके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे और उन्हीं के परिवार के अंग बनकर अनक वर्ष बिता देते थे। इस प्रकार एक विशेष प्रकार की शिक्षा-प्रणाली निकली और आगे आनेवाली पीढ़ियाँ उसी के आधार पर शिक्षित हुईं। क्रमशः यह प्रणाली रूढ़ हो चली और इससे एक उच्चतर संस्कृति बनी, जो बहुत समय तक कायम रही।

इस प्रकार, छान्दोग्य उपनिषत् में हम पाते हैं कि सत्यकाम जाबाल हारिद्रुमत गौतम के पास गये और अपने को शिष्य-रूप में स्वीकार किये जाने की प्रार्थना की। "उस (सत्य-काम) ने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा, मैं ब्रह्मचर्य-काल को व्यतीत करने की दृष्टि से आपके पास आया हूँ[१]।" प्रसंगतः यह रुचिकर उपाख्यान यह बताता है कि यद्यपि जाति-प्रथा स्थापित हो चुकी थी, परन्तु विवेकी गुरु निम्न जाति के शिष्यों को ग्रहण करना अस्वीकार नहीं करते थे। क्योंकि सत्यकाम एक दासी और एक अज्ञात व्यक्ति के अवैध सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न हुआ था। अपने घर से प्रस्थान करने के पूर्व जब सत्यकाम ने अपनी माँ जबाला से अपने गोत्र के विषय में पूछा; तो उसने कहा, "वत्स! मैं नहीं जानती कि किस गोत्र से तुम सम्बन्धित हो! अपने यौवनकाल में एक दासी के रूप में जब मैंने अनेक जनों की परिचर्या की, तब तुमको प्राप्त

---

१. छा० उ० ४. ४. ३।

किया था। अतः मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र कौन है। मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम है। अतः पूछे जाने पर तुम कहना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।" जिन आचार्य के पास सत्यकाम गया, वे माता और पुत्र की स्पष्टवादिता से अत्यधिक सन्तुष्ट हुए और शीघ्र ही उसे अपने शिष्य-रूप में ग्रहण कर लिया।

इसी प्रकार एक दूसरे श्रेष्ठ आचार्य उद्दालक आरुणि, जिनका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषत् में है, अपने पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय को एक गुरु के पास विद्या प्राप्त करने के लिये भेजते हैं। उन्होंने कहा, "श्वेतकेतु! गुरु के गृह जाओ; क्योंकि हमारे वंश में कोई ऐसा पुत्र नहीं है, जिसने वेद न पढ़ा हो और केवल ब्राह्मणों का सजातीयमात्र रहा हो।" निस्सन्देह उपनिषत्-काल के सबसे अधिक विख्यात आचार्य याज्ञवल्क्य थे; जिनकी शिक्षाएँ बृहदारण्यक उपनिषत् के एक बहुत बड़े भाग के रूप में उपलब्ध हैं। इन आचार्यों में आवश्यक प्रश्नों पर प्रायः परस्पर वादविवाद भी हुआ करते थे।

सत्य की यह खोज एकान्तवासी ऋषियों तक ही परिसीमित नहीं थी, प्रत्युत वह राजसभाओं तक भी पहुँच गयी थी। उपनिषदों में विवादरूप में उपन्यस्त प्रश्नों में राजा लोगों की भी रुचि थी। ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषदों की गंभीर समस्यायें मूलतः क्षत्रियों में उत्पन्न हुई थीं, जिनसे उन्हें ब्राह्मणों ने सीखा था। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि श्वेतकेतु और उसके पिता उद्दालक आरुणि ने पाञ्चालों के राजा प्रवाहण जैवलि से शिक्षा प्राप्त की। श्वेतकेतु राज-

दरबार में इस विचार से स्वाभिमानयुक्त होकर गये थे कि उन्होंने सब कुछ सीख लिया है; परन्तु राजा के कुछ प्रश्नों ने उनका यह भ्रम दूर कर दिया। वह अपने पिता के पास लौट आये और बोले, "उस क्षत्रियकुमार ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे और मैं उनमें से एक का भी उत्तर न दे सका।" पिता ने कहा, "पुत्र ! मैं स्वयं इन प्रश्नों में से किसी एक का भी उत्तर भली भाँति नहीं जानता, अन्यथा मैं तुम्हें बता देता।" तब दोनों पिता और पुत्र राजा के पास गये और जो प्रश्न उसने पूछा था, उनके जानने की इच्छा प्रकट की। राजा ने उनकी इच्छा की पूर्ति के लिये राजी होकर एक बहुत ही रोचक बात कही। उन्होंने कहा कि "यह विद्या पहले कभी ब्राह्मणों को ज्ञात नहीं थी। इस पर सदैव क्षत्रियों का ही एकाधिकार रहा है और इसीलिये उनकी श्रेष्ठता है[१]।" निस्सन्देह यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्या यह बात थी कि जब ब्राह्मण लोग यज्ञों और शास्त्रोक्त कर्मों (rituals) तथा उनसे सम्बन्धित देवताओं में ही अपने को व्यस्त रखते थे, क्षत्रिय लोग तत्कालीन परम्पराओं और यज्ञ-विधान के बन्धन से अपने को अत्यधिक स्वतन्त्र रखकर संसार के गंभीर रहस्यों के अन्तस्तल में प्रविष्ट हो चुके थे। इसके बाद के काल में भी भारत के धार्मिक विकास की यह एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण बात है कि बहुत से नये सम्प्रदायों का समुद्भव ब्राह्मणों के क्षेत्र के बाहर हुआ। राम, कृष्ण, बुद्ध जैसे भारत के बड़े-

---

१. छा० उ० ५. ३. ७।

बड़े धर्माचार्य और सुधारक ब्राह्मण नहीं थे। अत्यधिक अर्वाचीन सुधारक जैसे कबीर, नानक और तुकाराम के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। जो कुछ हो, हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उपनिषदों के गंभीर रहस्य प्रथमतः ब्राह्मणों को अज्ञात थे। इसकी पुष्टि पुनः इससे भी हो जाती है कि प्रतिष्ठित ब्राह्मण आचार्य, क्षत्रिय राजकुमारों से विद्या प्राप्त करते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में पाँच ब्राह्मणों का शिक्षा निमित्त एक राजा के पास जाने की एक दूसरी रोचक आख्यायिका का उल्लेख है। "उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लव के पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन और अश्वतराश्वि के पुत्र बुडिल इन पाँचों बड़े याज्ञिकों तथा विद्वानों ने परस्पर मिलकर यह मीमांसा की कि कौन आत्मा है और कौन ब्रह्म है। उन्होंने उद्दालक आरुणि को उस समय का सबसे बड़ा धर्माचार्य माना और अपनी शंका के समाधान के लिए उनके पास जाने का निश्चय किया। जब वह उनके पास पहुँचे तब उद्दालक ने कहा, "केकय देश के राजा अश्वपति इस समय के सबसे बड़े आचार्य हैं, अतः हम सबको उनके पास चलना चाहिए[१]।"

अतएव यह स्पष्ट है कि उपनिषदों के युग में विद्या तथा उच्च स्तर की संस्कृति के लिए वास्तविक खोज थी। अध्ययन का विषय विस्तृत एवं व्यापक प्रतीत होता है। हम छान्दोग्य उप-निषद् के एक रोचक अंश से इस बात की प्रामाणिक सूचना

---

१. छा० उ० ५. ११. १-४।

प्राप्त करते हैं। सनत्कुमार ने नारद से प्रश्न किया कि उन्होंने (नारद ने) किन विषयों का अध्ययन किया है? इसके उत्तर में नारद, जो और अधिक शिक्षा के लिए समुत्सुक थे, कहते हैं, "हे भगवन्! मै ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद (चतुर्थवेद); पंचम वेद इतिहास-पुराण, पितृविद्या, राशिविद्या, देवविद्या, निधिविद्या, अपृथक्कृत मूलवेद और उसकी २४ शाखाएँ, अमानुषीय देवविद्यायें, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या—ये सब जानता हूँ[१]

इस प्रकार यह एक अत्यधिक धार्मिक और आध्यात्मिक जिज्ञासा का युग था, जो गंभीर और वैविध्यपूर्ण संस्कृति पर आधारित थी। जिज्ञासु ब्रह्मचारी, विद्वान् पुरुष और स्त्रियाँ महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान करने के प्रयत्न में अपना जीवन व्यतीत करती थीं और वास्तविक जिज्ञासु सत्यज्ञान के इच्छुक हो उत्साहवर्धक शास्त्रार्थ करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे। इन सब शास्त्रार्थों का मुख्य विषय था "अन्तिम सत्य क्या है।" "कौन आत्मा है और ब्रह्म क्या है[२]।"

"किससे प्रेरित होकर मन अपने विषय की ओर जाता है, किससे अनुप्राणित होकर जीवन चलता है, किससे प्रेरित होकर वाणी बोली जाती है और कौन देवता नेत्र और कान को (अपने-अपने कर्मों की ओर) प्रवृत्त करता है[३]।"

यह जिज्ञासा का युग था। ऋग्वेदकालीन ऋषियोंवाली

---

१. छा० उ० ७. १. १; २. छा० उ० ५. ११. १.; ३. केन १. १।

सहज और तर्क-वितर्करहित बालोचित श्रद्धा अब बहुत पीछे छूट चुकी थी, जिन ऋषियों ने कि प्रकृति के प्रत्येक आकर्षक दृश्य में किसी न किसी शक्तिमान् तथा सहृदय देवता का साक्षात्कार किया था एवं उसकी प्रशंसा के गीत गाये थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के विस्तृत रूप ने तथा तन्निर्दिष्ट विधि-विधानों ने भी उस युग की जिज्ञासा को सन्तुष्ट न कर पाया था। उस युग के सत्यान्वेषी पुरुषों की आत्मा किसी प्रकार की प्रामाणिकता से, चाहे वह कितनी ही उत्कृष्ट हो, न तो सन्तुष्ट होनेवाली थी और न सत्य की खोज से पीछे ही हटनेवाली थी। प्रत्युत सत्यरूपी वास्तविकता की खोज के प्रति निरन्तर संलग्न थी। जगत् के बहुदेववाद-सम्बन्धी विचार अब उन क्षेत्रों में—जिनमें कि उपनिषद् रचे गये—निश्चित ही समय-सापेक्ष न रह गये थे। यह स्पष्टतः स्वीकार कर लिया गया था कि संसार में व्याप्त केवल एक ही सत्ता सर्वश्रेष्ठ परमात्मा है। परन्तु अब प्रश्न यह था कि 'यह एक परमात्मा कौन है?' शुरू-शुरू में तो इसके जवाब में कुछ आगापीछा किया गया था और यह निश्चित न था; परन्तु शनैः शनैः यह भावना उत्पन्न हुई कि अग्नि और जल में, पृथ्वी और द्यौ में, इस दृश्य जगत् एवं अदृश्य अन्तर्जगत् में एक ही अदृष्ट सत्य व्याप्त है, जो ब्रह्म है, आत्मा है और जिसका ज्ञान परमानन्दस्वरूप है।

ऋग्वेद से [उपनिषदों की] दूरी का अन्दाज जिज्ञासा-विषयक विकास के द्वारा किया जा सकता है। ऋग्वेद के सूक्तों में प्रार्थना और विनय के मुख्य विषय धन, गायें, अश्व,

सुवर्ण, पुत्र और दीर्घजीवन हैं। उपनिषदों में भी धार्मिक कृत्य की उपयोगिता-विषयक ये सामान्य विचार परिलक्षित होते हैं। परन्तु इस प्रकार के लघु विचार बहुत कम हैं। यहाँ उपासकों की भावनाओं ने और अधिक ऊँचे उड़ना सीख लिया है। यहाँ तो स्वीकार किया गया कि शुभ एवं धार्मिक कृत्यों का फल मरणोपरान्त उच्चलोक की प्राप्ति है। उपासक उच्चलोक में जाने की प्रार्थना करते हैं। तदनन्तर उपासक अग्नि में यह कहता हुआ आहुतियाँ डालता है, "पृथ्वी तथा सभी लोकों में निवास करनेवाली अग्नि को नमस्कार है। मुझे, जो मैं तेरा उपासक हूँ, (मेरे लिये उचित) उस लोक को ले चल जो पुण्यात्माओं का लोक है।" परन्तु उच्चलोकों की व्यर्थता और अनित्यता का भान पहले ही ऋषियों के मस्तिष्क में हो चुका था और न वे उच्चलोकों की प्राप्ति के लिये इच्छुक ही दिखाई पड़ते हैं। इस समय यह भी समझा गया कि पुण्य का फल भी क्षणभंगुर है। सत्कर्मों के द्वारा सम्पादित पुण्य के समाप्त होने पर मनुष्य को वह लोक छोड़ना पड़ता है; जिसको कि उसने प्राप्त किया है। कर्म का सिद्धान्त पूर्णतः स्थापित हो गया था। कारण और कार्य सदसत्कर्म एवं उनके फल का पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ और अनिवार्य माना गया। अतः उच्च या अधोलोक की प्राप्ति—जो कि ऐहिक जीवन का अवश्यंभावी परिणाम मानी जाती है—अस्थायी मानी गयी। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन यहाँ से वहाँ या एक स्तर से दूसरे स्तर पर चक्रवत् परिवर्तनशील माना गया। अच्छे-बुरे या दोनों से निरपेक्ष तटस्थ

जीवन की अनिवार्य प्राप्ति का कारण सञ्चित कर्म माना गया। सुप्रसिद्ध पुनर्जन्मवाद उपनिषदों में बड़ी दृढ़ता से स्वीकार किया गया है। छान्दोग्य के पाँचवें अध्याय में, निम्न जन्मों से उच्च जन्मों में जीवात्मा का जटिल आवर्तन, विस्तारपूर्वक वर्णित है। पर इन ऋषियों ने इस अवांछनीय प्रत्यावर्तन से बाहर निकल सकने का मार्ग खोज निकाला था। यही 'ज्ञान-मार्ग' था।

"वे जो ब्रह्म को जानते हैं, जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं।" उनका पुनर्जन्म नहीं होता। "जो उस मार्ग पर अग्रसर होते हैं, वे प्रत्यावर्तित नहीं होते[1]।" अतः अप्रत्यावर्तन की पुकार अन्तरात्मा की अन्तश्चेतना हो गई और मुक्ति की पर्याय भी हो गई। धार्मिक पुण्य-कार्य, यज्ञ तथा संस्कार एक जीवन से दूसरे जीवन को प्राप्त कराते हैं; केवल ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही मनुष्य जन्म और मृत्यु के चक्र से छूट पाता है। "सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस तथा सभी शान्त और तटस्थ वस्तुओं में व्याप्त यह मेरी अन्तर्निगूढ़ आत्मा है। यह ब्रह्म है। जब कोई (इस रहस्य को जानता हुआ) इस संसार से प्रस्थान करता है; तो वह उस (ब्रह्म) को प्राप्त होता है[2]।" "धर्म की तीन शाखायें हैं। यज्ञ, स्वाध्याय और दान पहली, तप दूसरी तथा ब्रह्मचारी के रूप में सदैव अपने शरीर को संयमित रखते हुए अपने आचार्य के गृह में रहना तीसरी शाखा है। यह सब स्वर्गलोकों की प्राप्ति

---

१. छां० उ० ४. १५; २. छां० उ० ३. १४. ४।

कराते हैं। परन्तु जो ब्रह्मसंस्थ है, वही केवल अमृतत्व की प्राप्ति करता है[१]।" यह अमृतत्व, जिसका आशय सम्भवतः जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त होना है, उपासक का लक्ष्य हुआ और उपनिषदों में सर्वत्र उच्च चेतना का विषय रहा। यहाँ तक कि उपनिषदों में सर्वप्राचीन उपनिषद्—छान्दोग्य—में हम उपनिषद् की शिक्षाओं का सारांश पूर्ण रूप में पाते हैं। "सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है। व्यष्टि भी वही है। जो इसको जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है।"

यह विद्या अथवा ब्रह्मज्ञान स्वयं साक्षात्कृत माना जाता है। इसके लिये प्रयुक्त शब्द 'पश्यति' है। इस ज्ञान का विषय और ब्रह्म का स्वरूप—विविध गौण विषयों के साथ—जैसे कि मानवीय आत्मा का स्वरूप, मृत्यु के पश्चात् जीवन इत्यादि—जिसकी विवेचना पृथक्-पृथक् उपनिषदों में की जायगी—विभिन्न उपनिषदों में विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है।

अतएव अब हम कुछ मुख्य उपनिषदों की सूक्ष्म समीक्षा करने के लिए आगे बढ़ते हैं।

———

१. छां० उ० २. २३।

अध्याय ९

छान्दोग्य उपनिषद्

"विशुद्ध (ब्रह्म) विषयक चेतनायें, वस्तुतः चेतनायें हैं जिनमें मानवीय आत्मा को यह विश्वास दे दिया जाता है कि उसे कभी निराशा न प्राप्त होगी।"

अपने वास्तविक गुण, प्राचीनता और विस्तार के कारण छान्दोग्य उपनिषद् उपनिषदों के शिरोभाग में भली भाँति स्थापित किया जा सकता है। यह दो सबसे बड़े उपनिषदों में से एक है और आकार में लगभग बृहदारण्यक के बराबर है। यद्यपि यह विशालता में बृहदारण्यक से कुछ ही छोटा है, तो भी वादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र तथा शंकर ने अपने प्रसिद्ध उपनिषद्-भाष्य में इसका अत्यधिक उपयोग किया है। शंकर ने छान्दोग्य से ८०९ उद्धरण दिये हैं, जब कि बृहदारण्यक से वह केवल ५६५ ही देते हैं। कालनिर्णय के अनुसार छान्दोग्य सम्भवतः सभी उपनिषदों से पहले का है। छान्दोग्य के कम से कम कुछ भागों की रचना बहुत पहले हुई यह तो इसी तथ्य से प्रकट हो जाता है कि जो विचार इसमें मिलते हैं, वे ब्राह्मणों के विचारों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इसकी

प्राथमिक उत्पत्ति-सम्बन्धी दूसरा प्रमाण यह है कि यद्यपि बहुत से स्थलों में (अ० १ खण्ड ४, मन्त्र ३; अ० ३ खण्ड १५, मन्त्र ७ ; अ० ४ खण्ड १७) वेदों का उल्लेख है। परन्तु केवल ऋक्, यजुः और साम यह तीन ही उल्लिखित किये गये हैं। अतः स्पष्ट है कि जब उन भागों का निर्माण हुआ था, तो अथर्ववेद की मान्यता धार्मिक साहित्यमान्यता नहीं थी।

छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद की ताण्ड्य शाखा के छान्दोग्य ब्राह्मण का एक भाग है। छान्दोग्य ब्राह्मण में १० अध्याय हैं, जिनमें से अन्तिम ८ अध्याय छान्दोग्य उपनिषत् के रूप में स्वीकृत हैं और प्रथम दो अध्यायों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है जिनमें कि विवाह तथा जातकर्मसंस्कार-सम्बन्धी सूक्त हैं। आठों अध्याय, जो छान्दोग्य उपनिषत् कहलाते हैं, गुणात्मकता की दृष्टि से बहुत ही असमान हैं और सम्भवतः विभिन्न काल के हैं। ग्रन्थ के अत्यन्त आवश्यक भाग में जिस रूप में कि वह हमें अब तक मिलता है—तीन अध्याय हैं, जिसमें उपनिषत्काल के अत्यधिक ओजपूर्ण और विशिष्टतापूर्ण विचार पाये जाते हैं। शेष पाँच अध्याय और उनमें भी विशेषतः प्रथम तीन बहुत ही निम्न कोटि के और तुच्छ विषयवाले हैं। आठों अध्याय एक दूसरे से बहुत कम सम्बद्ध हैं और लगभग एक दूसरे से पृथक् हैं। वे विभिन्न कालों में विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा रचे गये होंगे और कुछ बाह्य परिस्थितियों के द्वारा एक ग्रन्थ के रूप में लाये गये होंगे। यहाँ तक कि कतिपय अध्याय भी पृथक् विभागों से निर्मित जान पड़ते हैं।

विभिन्न अध्यायों की रचना में काल-सम्बन्धी भिन्नता और लेखकों की अनेकता का स्पष्ट संकेत इस तथ्य में पाया जाता है कि जब कि प्रथम, तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में केवल तीन वेदों का उल्लेख है, तो सप्तम अध्याय (खंड १, मन्त्र २) में नारद, सनत्कुमार के इस प्रश्न के उत्तर में कि 'उन्होंने कौन-कौन विद्याएँ प्राप्त की हैं' अन्य तीनों वेदों के साथ चतुर्थ वेद अथर्ववेद का भी नाम लेते हैं। थोड़े से भी विवेचनात्मक अध्ययन से इस उपनिषद् की विषय-विभिन्नता के बहुत से स्पष्ट संकेत मिलते हैं। परन्तु हम ग्रन्थ के इस पहलू पर अधिक समय तक विचार नहीं कर सकते, चाहे यह कितना ही रोचक क्यों न हो। क्योंकि हमारे वर्तमान उद्देश्य के अनुरोध से हमें भिन्न-भिन्न अध्यायों के पारस्परिक बड़े-बड़े विषयान्तरों को स्पष्ट करना अपेक्षित है।

प्रथम प्रपाठक उद्गीथ-विषयक है। यह एक विचित्र विषय कहा जा सकता है, जो दूसरे उपनिषदों अथवा छान्दोग्य उपनिषद् के अन्य अध्यायों में नहीं पाया जाता। उद्गीथ सर्वश्रेष्ठ कहा गया है और इसी रूप में इसकी उपासना करने का विधान है। प्रारंभिक मन्त्र, जो उद्गीथरूप में ओम् की उपासना का विधान करता है, इसी बात पर जोर देकर उसे इतनी बार दोहराता है कि पढ़नेवाला ऊब जाय। कभी यह (उद्गीथ) सूर्य है[१], कभी आदित्य[२], कभी आकाश[३], कभी नासिक्य प्राण[४], कभी वागिन्द्रिय[५] और कभी नेत्र[६] जिसकी

---

१. छां० उ० १.३.२ ; २. छां० उ० १.३.१ ; ३. छां० उ० १.६.२ ; ४. छां० उ० १.२.२ ; ५. छां० उ० १.२.५ ; ६. छां० उ० १.२.४ ।

कि उद्गीथरूप में उपासना करने का विधान है।

इससे यह प्रतीत होता है कि उद्गीथ सर्वश्रेष्ठ ईश्वर है, जो बाद के ब्रह्म के समान है। उद्गीथ का ज्ञान अथवा उपासना-प्रणाली उद्गीथ विद्या कही जाती है ; जैसा कि बाद के उपनिषदों में सर्वश्रेष्ठ (तत्त्व) ज्ञान को ब्रह्मविद्या कहा गया है। अन्यत्र उद्गीथ सामवेद का रस अथवा सार कहा गया है, जो कि पुनः ऋग्वेद का रस या सार है। यदि किसी समय अथवा आचार्यों के किसी क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ (परमात्मा) को उद्गीथ कहा गया है और इस रूप में उसकी उपासना की गई है, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम प्रपाठक में देखा जाता है, तो उसे अव्यावहारिक समझना चाहिए और उस शब्द के स्थान पर आत्मा या ब्रह्म का ग्रहण करना चाहिए। छान्दोग्य का दूसरा अध्याय सामवेद की प्रशंसा करता है। "जो कुछ साधु है, साम है[१]।" कभी-कभी साम पाँच प्रकार का और कभी सात प्रकार का बताया गया है। इन विषयों का काल्पनिक और विशुद्ध स्वरूप छान्दोग्य उपनिषद् (२।२।१) में अनायास देखा जाता है। भाष्यकार माधव इस गपशप की निम्न प्रकार से व्याख्या करके उसका कुछ अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं। "मनुष्य को इस पञ्चविध साम की पाँच भिन्न लोकों में उपासना करनी चाहिए—प्रद्युम्न की पृथ्वी में, वासुदेव की अग्नि में, नारायण की आकाश में, अनिरुद्ध की आदित्य में तथा संकर्षण (विध्वंसक) की द्यौ

१. छां० उ० २. १. १।

में। इस प्रकार यह उपासना-क्रम उच्च भूमिकाओं से सम्बद्ध है। इस तरह के बालिशतापूर्ण और काल्पनिक विषय छान्दोग्य के आरम्भ में भरे पड़े हैं। तो भी उन्हें उपनिषद् ही कहा गया है और कहा भी जा सकता है, क्योंकि उनमें सर्वत्र ही एक विभु अद्वितीय और चरम सत्य की स्पष्ट खोज है।

जब छान्दोग्य की रचना हुई वह युग गवेषणा का युग था। इस समय के सतर्क एवं जिज्ञासु लोग कैसे भी उत्कृष्ट बाह्या-डम्बर विधि-विधान और प्रामाण्य से सन्तुष्ट होनेवाले या पीछे हटनेवाले न थे। वे तो निरन्तर सत्य की खोज में लगे थे। इस समय विश्व-सम्बन्धी बहुदेवतावादी अथवा अनेकेश्वरवादी विचार कम से कम उन क्षेत्रों में, जिनमें उपनिषद् पनपे थे, निश्चित रूप से पुराने हो चुके थे। यह स्पष्टतः स्वीकार कर लिया गया था कि जगत् में व्याप्त केवल एक ही श्रेष्ठ परमात्मा है। छान्दोग्य उपनिषद् में हम इस मौलिक प्रश्न के विविध उत्तर पाते हैं। विभिन्न देवों के स्थान पर सर्वश्रेष्ठ ईश्वर की स्थिति विविध ऋषियों द्वारा मानी गई। साधारण वैदिक देवताओं में से कोई एक देवता श्रेष्ठ घोषित किया गया। हम प्रथम प्रपाठक के ८वें खण्ड में इसी विषय को स्पष्ट करनेवाला एक बहुत ही रोचक शास्त्रार्थ पाते हैं। वेदज्ञान में पारंगत कुछ लोग जैसे शिलक शालवत्य, चैकितायन दाल्भ्य, और प्रवाहण जैवलि एक बार परस्पर मिले और एक दूसरे से कहा—"हम लोग उद्गीथ (विद्या) में पारंगत हैं। अतः हम इस विषय पर शास्त्रार्थ करें।" जब सब सहमत हो गये तो प्रवाहण जैवलि ने कहा—"आप दोनों जने पहले कहें, क्योंकि मैं सुनना चाहता हूँ कि

आप दोनों ब्राह्मण क्या कहना चाहते हो।" तब शिलक शालवत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कहा, "आपकी अनुमति से मैं कुछ पूछूँगा।" दाल्भ्य ने कहा, "पूछो"। तब माधव द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार यह वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ।

"मोक्ष की स्थिति में अग्नि किसमें लीन होती है?" उसने उत्तर दिया "वरुण में।" "वरुण किसमें लीन होता है?" "सूर्य में।" "सूर्य किसमें लीन होता है?" उसने उत्तर दिया "दक्ष में।" "मोक्ष में दक्ष किसमें लीन होता है?" उसने कहा "रुद्र में।" "रुद्र किसमें लीन होता है?" उसने कहा "किसी को यह न सोचना चाहिए कि रुद्र से भी बढ़कर कोई वस्तु है। क्योंकि हम यह स्वीकार करते हैं कि सामवेद केवल रुद्र का प्रतिपादन करता है। क्योंकि इसके सूक्त केवल रुद्र की ही प्रशंसा में गानरूप हैं।" तदनन्तर शिलक शालवत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कहा "हे दाल्भ्य! सामवेद में प्रतिपादित सवश्रेष्ठ (ईश्वर) विषयक तुम्हारा विचार अधूरा और अपूर्ण है। और यदि कोई यह कहे कि तुम्हारा शिर (कटकर) गिरे तो अवश्य तुम्हारा शिर (कटकर) गिर पड़ेगा।" तब दाल्भ्य ने कहा "हम इसे स्वयं आप श्रद्धेय महानुभाव से सीखेंगे।" शालवत्य ने कहा "सीखो।" "रुद्र की क्या गति है?" उसने उत्तर दिया "ब्रह्म।" दाल्भ्य ने पूछा "ब्रह्म की क्या गति है?" उसने कहा "किसी व्यक्ति को यह न सोचना चाहिए कि ब्रह्म से भी बढ़कर कोई वस्तु है। क्योंकि हम यह स्वीकार करते हैं कि सामवेद केवल ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। क्योंकि इसके सूक्त केवल ब्रह्म ही की प्रशंसा

में सामरूप हैं।" तब प्रवाहण जैवलि ने शिलक शालवत्य से कहा "शिलक शालवत्य ! सामवेद में कहा गया सर्वश्रेष्ठ (ईश्वर) विषयक तुम्हारा विचार परिमित है। यदि ऐसा कोई कहता है कि तुम्हारा शिर (कटकर) गिरे, तो निस्संदेह तुम्हारा शिर (कटकर) गिर पड़ेगा ?" तब शालवत्य ने कहा "अच्छा, मैं इसे तुमसे जानना चाहता हूँ।" जैवलि ने कहा "जानो[१]।" तब शालवत्य ने पूछा "ब्रह्म की क्या गति है ?" प्रवाहण ने उत्तर दिया "सर्वप्रकाशवान् आकाश; क्योंकि सभी शक्तिशाली भूत आकाश से ही उद्भूत होते हैं और आकाश ही में अस्त हो जाते हैं। आकाश इन सबसे बड़ा है और आकाश ही उनको शरण देनेवाला है। वह उच्च से भी उच्चतर है। वह उद्गीथ है, वही ब्रह्म है[२]।"

इसी प्रकार प्राचीनशाल के साथ पाँच जिज्ञासुओं के, जो उद्दालक आरुणि के निर्देशानुसार केकय देश के राजा के पास गये थे, सर्वश्रेष्ठ (परमात्मा) के विषय में अलग-अलग विचार थे। औपमन्यव से पूछे जाने पर कि किसे वह आत्मा मानते हैं; उन्होंने कहा, द्यौ को[३]। सत्ययज्ञ पौलुषि ने कहा कि आदित्य सर्वश्रेष्ठ है। इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय के अनुसार सर्वश्रेष्ठ वायु था। जनशार्कराक्ष्य ने कहा कि आकाश सर्वश्रेष्ठ है। बुडिल आश्वतराश्वि ने कहा कि सर्वश्रेष्ठ जल है। उद्दालक आरुणि ने पृथ्वी ही को सर्वश्रेष्ठ कहा। परन्तु राजा

---

१. छां० उ० १. ८. ४-८। २. छां० उ० १. ९. १।

३. छां० उ० ५. १२. १।

इनमें से किसी भी उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुआ और बहुत ही रोचक यह उत्तर दिया। अश्वपति ने उनसे कहा, "तुम इसीलिए आत्मा को पृथक् मानकर भोजन करते हो, परन्तु वह जो वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, जो कि प्रादेशमात्र (अर्थात् पृथ्वी से द्युलोक तक विस्तृत) है और साथ ही निस्सीम है, वह सभी लोकों, सभी भूतों तथा सभी आत्माओं के रूप में अन्न भक्षण करता है। अतः उस वैश्वानररूपी आत्मा की मूर्धा अतीव तेजोमय है, उसके नेत्र सर्वद्रष्टा हैं, उसके प्राण गतिशीलता की समष्टि है, स्कन्ध सभी को अपने में सन्निविष्ट करनेवाला स्थान है। वस्ति रयि है, पाद पृथिवी, उर वेदि, लोम बर्हि, हृदय गार्हपत्याग्नि, मन अन्वाहार्याग्नि और मुख आहवनीयाग्नि है[1]।"

तृतीय प्रपाठक के प्रारंभ में आदित्य को सर्वश्रेष्ठ ईश्वर कहा गया है। "सम्पूर्ण संसार उसी से आधारित बताया गया है।" पुनः तृतीय प्रपाठक के १९वें खण्ड में आदित्य को वही स्थान दिया गया है। "आदित्य ब्रह्म है।" प्रायः वायु को छान्दोग्य उपनिषद् में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। "निस्सन्देह वायु एक बड़ा संवर्ग है। जब अग्नि बुझ जाती है, तो वह वायु में समा जाती है। जब सूर्य अस्त हो जाता है, तो वह वायु में लय हो जाता है[2]।"

अन्यत्र अग्नि सभी के अन्दर रहनेवाली सर्वश्रेष्ठ सत्ता कही गयी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद्

---

१. छां० उ. ५. १८। २. छां० उ० ४. ३. १।

में सम्पूर्ण विश्व में व्यापक एवं उसके प्रशासक सर्वश्रेष्ठ तत्त्व का विचार पूर्णतः समझा जा चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ समय तक इस सर्वश्रेष्ठ पद पर वैदिक देवताओं में से किसी एक को स्थापित करने का प्रयत्न चलता रहा था। परन्तु किसी कारणवश यह अधिक चल नहीं सका और उपनिषदों ने सर्वश्रेष्ठ तत्त्व को—जिसका कि विश्व में उन्होंने साक्षात्कार किया था—अपना एक नाम दे दिया। छान्दोग्य के प्रारंभिक मन्त्रों में उसे उद्गीथ कहा गया है, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं। कुछ स्थानों में उसे साम कहा गया है। परन्तु शीघ्र ही ये नाम छोड़ दिये गये और ब्रह्म तथा आत्मा अपनाये गये जो कि सम्पूर्ण उपनिषद्काल में सर्वश्रेष्ठ परमात्मा के प्रचलित नाम बने रहे। छान्दोग्य उपनिषद् के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋषि उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु हैं। हम उनके विषय में धीरे-धीरे और आगे सुनेंगे, तो भी वे एक क्षत्रिय ऋषि—प्रवाहण जैवलि—की अपेक्षा न्यून ही देख पड़ते हैं। छान्दोग्य में उल्लिखित एक अन्य शिक्षक केकय देश के राजा अश्वपति हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों की उत्कृष्ट एवं रहस्यमयी शिक्षायें क्षत्रियों ने ही प्रचारित की थी। श्वेतकेतु और उद्दालक आरुणि जैसे ब्राह्मण आचार्य उन तथ्यों को सीखने उनके पास जाते थे।

इन बालिश और तुच्छ विषयों के बीच—जिनके कि कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं—उपनिषदों की यथार्थ रूप में गंभीर शिक्षा, अकस्मात् तृतीय प्रपाठक के मध्य से शुरू हो जाती है। "निस्सन्देह यह सब ब्रह्म है, सभी पदार्थ उससे

उत्पन्न हुए हैं, उसी में स्थित हैं और उसी में लीन होते हैं। स्थिरचित्त होकर उसकी उपासना करो[1]।" यहाँ पर छान्दोग्य ने एक मसला सामने लाकर खड़ा किया है जिसे कि उपनिषदों की मुख्य शिक्षा कहनी चाहिए। इसी को बाद के भी उपनिषदों ने दोहराया है, यद्यपि उसमें वह ओज और प्रभावोत्पादकता नहीं रही। यही शिक्षा सिद्धान्तरूप से आगे इस प्रकार विस्तारपूर्वक वर्णित की गयी है। "वह आत्मस्वरूप है। प्राण उसका शरीर है। प्रभा उसका रूप है। सत्य उसका संकल्प है। वह आकाशवत् विभु है। वह सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध तथा सर्वरस है। इन्द्रियों तथा वाणी से रहित होकर भी वह प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। वह मेरी आत्मा की भी आत्मा है। वह मेरे हृदय के अन्दर है। वह बीजकणों से भी अणु है; परन्तु दूसरी ओर वह पृथ्वी, द्यौ तथा सभी लोकों से भी बड़ा है[2]।" यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् ने चिन्तन की एक ऐसी उच्च भूमिका को प्राप्त किया है; जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अन्य कोई भी उपनिषद् या संसार का कोई भी धार्मिक साहित्य उसकी श्रेष्ठता को पा नहीं सकता। यह माना जाता है कि यह शिक्षा शाण्डिल्य ने दी। पर इस नाम का फिर उल्लेख नहीं हुआ। पर विचारों की यह उच्चता सर्वत्र एक रूप में बनी न रह सकी। तीसरे और चौथे प्रपाठकों के अवशिष्ट भागों में फिर कुछ सामान्य विषयों की ओर प्रवृत्ति दिखाई

१. छां० उ० ३. १४. १। २. छां० उ० ३. १४. २-३।

देती है। चौथे प्रपाठक में सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका है जिसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। यह आख्यायिका जातीय कट्टरताओं के उल्लंघन और जाति-सम्बन्धिनी प्राचीन रूढ़ियों के प्रति बलवती उपेक्षा को सूचित करती है।

पंचम प्रपाठक का प्रारंभ, इन्द्रियों और प्राण के पारस्परिक कलह के एक रोचक और सुन्दर दृष्टान्त से होता है जिसमें प्राण की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। तदनन्तर एक ब्राह्मण-युवक श्वेतकेतु की आख्यायिका आती है जो पाञ्चाल देश के राजा प्रवाहण जैवलि की राजसभा में गया था। उद्दालक आरुणि, उनका पुत्र श्वेतकेतु और राजा प्रवाहण जैवलि—इन तीन व्यक्तियों के नाम छान्दोग्य उपनिषद् में विशेष रूप से दिखाई देते हैं। श्वेतकेतु ने उस समय की प्रथा के अनुसार अपनी शिक्षा को समाप्त कर लिया था और गर्वोन्मत्त था। राजा ने उससे पाँच प्रश्न पूछे; जिनमें से किसी एक का भी वह उत्तर न दे सका। इस पराजय से क्षुब्ध होकर श्वेतकेतु अपने पिता के पास आया और झुँझलाकर कहा, "उस राजन्यबन्धु ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे; जिनका मैं उत्तर न दे सका।" उद्दालक आरुणि ने कहा कि मैं स्वयं उन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता हूँ। तब उद्दालक आरुणि राजा के पास गये और शिक्षा प्राप्त करने की उनसे प्रार्थना की। राजा बड़े पसोपेश के बाद उस रहस्यमय ज्ञान को बताने पर राजी हुए जो कि ब्राह्मणों को अभी तक अज्ञात था।

वे पाँच प्रश्न, जिनको प्रवाहण जैवलि ने श्वेतकेतु से पूछा और जिन्होंने इस रोचक चर्चा को जन्म दिया, यह

थे—(१) (मरणोपरान्त) प्राणी कहाँ जाते हैं ? (२) जीव (इस लोक में) कैसे प्रत्यावर्तित होते हैं ? (३) कहाँ से देवयान और पितृयान परस्पर पृथक् होते हैं ? (४) पितृ-लोक जीवों से आपूरित क्यों नहीं होता ? (५) पाँचवीं आहुति में जल को पुरुष क्यों कहा गया है ? प्रवाहण जैवलि के द्वारा दी गई विद्या इन प्रश्नों के क्रम का अनुसरण नहीं करती और न पूर्णतः उसमें सारे प्रश्नों का उत्तर ही है। यह उत्तर पाँच प्रतीकात्मक यज्ञों के वर्णन से प्रारंभ होता है, जिसमें द्यौ, मेघ, पृथ्वी, पुरुष और वायु को अग्नियों की संज्ञा दी गयी है और इसे पंचाग्निविद्या कहा गया है। राजा प्रवाहण की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण भाग मरणोपरान्त जन्म-ग्रहण-विषयक है। उसके अनुसार जो पंचाग्निविद्या जानते हैं, और श्रद्धा से वनों में मनन करते हैं, वे कुछ अवस्थाओं को पारकर ब्रह्मप्राप्ति करते हैं। इसे देवयान कहा गया है। जो पुरुष लोकहित के कार्य करते हैं और ग्रामों में भिक्षा देते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् धूम्र को प्राप्त करते हैं। पुनः धूम्र से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन सूर्य के सम्वत्सरार्ध को, उससे पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को जाते हैं। वे चन्द्रलोक में उस समय तक निवास करते हैं जब तक कि उनके कर्मफल का क्षय नहीं हो जाता। तत्पश्चात् वे उसी मार्ग से लौटते हैं—चन्द्रमा से आकाश को, आकाश से वायु को, वायु से धूम्र को, धूम्र से मेघ को। फिर वे वृष्टि के रूप में नीचे आते हैं और यव तथा अन्य अन्नों, ओषधियों, वनस्पतियों तथा

इन्हें खानेवाले जीवों के रूप में उत्पन्न होते हैं। जिन्होंने पिछले जन्मों में अच्छे कर्म किये हैं, वे इस क्रम से ब्राह्मणी, क्षत्रिया और वैश्या के गर्भ में भली भाँति आते हैं। परन्तु जो पाप करते हैं, वे श्वान, सूकर और चाण्डाल के रूप में उत्पन्न होते हैं। यहाँ हम पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्णतया प्रतिष्ठित पाते हैं।

पंचम प्रपाठक के ११वें खण्ड में हमें केकय देश के क्षत्रिय राजा अश्वपति के यहाँ रहस्यज्ञान की खोज में जाते हुए ६ ब्राह्मणों की एक दूसरी आख्यायिका मिलती है। यह आख्यायिका आगे लिखी गई है। अतः उसे यहाँ दोहराना अपेक्षित नहीं। अब हम छान्दोग्य उपनिषद् की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शिक्षा पर आते हैं, जो उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु के बीच सम्भाषण के रूप में दी गई है। यह पूरे के पूरे ६ठे प्रपाठक में है। हम पहले ही इन दो महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से परिचित हो चुके हैं, परन्तु उनके विषय में यहाँ किया गया वर्णन कुछ भिन्न है। उद्दालक आरुणि एक महान् आचार्य के रूप में विख्यात थे। पिछली दोनों आख्यायिकाओं में तो वे उस श्रेष्ठ ज्ञान से अपरिचित बताये गये हैं और उन्हें प्रवाहण जैवलि तथा राजा अश्वपति के पास शिक्षा निमित्त जाते हुए दिखलाया गया है। पर इस ६ठे प्रपाठक में उन्हें अपने पुत्र श्वेतकेतु को गंभीर ज्ञान देते हुए वर्णित किया गया है। श्वेतकेतु उस समय किसी प्रतिष्ठित आचार्य के यहाँ १२ वर्ष अध्ययन का समय बिताकर २४ वर्ष की अवस्था में अपने पिता के पास आये थे। पिता ने उनसे

पूछा कि क्या उन्होंने उस रहस्यपूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लिया है जिसके द्वारा सभी अश्रुत वस्तुएँ श्रुति-गोचर हो जाती हैं और सभी अज्ञात वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं। श्वेतकेतु ने पूछा, "वह ज्ञान क्या है?" उद्दालक आरुणि ने कहा, "जिस प्रकार एक मृद्-पिण्ड के ज्ञान से मिट्टी से बनी हुई सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है अथवा जैसे सुवर्ण-पिण्ड के ज्ञान से सोने से बनी हुई सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है; उसी प्रकार उस रहस्य के ज्ञान से सभी अश्रुत वस्तुएँ श्रुत और सभी अज्ञात वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं।" श्वेतकेतु ने इसके विषय में अपनी अज्ञता को स्वीकार किया और अपने पिता से उसको बताने को कहा। उत्तर में उद्दालक आरुणि ने सभी सत्तात्मक पदार्थों के तादात्म्य का प्रतिपादन किया और अनेक उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट किया। उद्दालक की शिक्षा का सारांश यह है कि सम्पूर्ण सत् एक अदृष्ट सत्य से उत्पन्न होता है और उसी में प्रतिष्ठित होता है। "जिस प्रकार यदि एक लवणखण्ड जल में घुला लिया जाय तो उसे न तो देखा जा सकता है और न जल से उसे पृथक् ही किया जा सकता है; प्रत्युत वह तो सम्पूर्ण जल में व्याप्त हो जाता है। उसी प्रकार वह अदृष्ट सत्य भी सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है। जिस प्रकार एक बीज में भविष्य में होनेवाला वृक्ष अपने स्कन्धों, शाखाओं, पत्तियों, पुष्पों एवं फलों के साथ निहित है; उसी प्रकार उस अदृष्ट सत्य में भी सम्पूर्ण जगत् स्थित है।" इसी तरह के अन्य उदाहरणों द्वारा इस मुख्य शिक्षा पर बहुत जोर दिया गया है। इससे भी बढ़कर कल्पना की सबल और ऊँची उड़ान के द्वारा इस अदृष्ट सत्य

का तादात्म्य जीवात्मा के साथ स्थापित कर दिया गया है। "हे श्वेतकेतु ! तुम वह हो[१]।" चिन्तन की शक्तिमत्ता और भावाभिव्यक्ति की सुन्दरता में छान्दोग्य का यह खण्ड अपने ढंग का अनोखा है। पिता और पुत्र की बातचीत, विचार-गाम्भीर्य और भावाभिव्यक्ति का नाटकीय ढंग, इन दोनों बातों की दृष्टि से यह पिता-पुत्र-संवाद अद्भुत है। पुत्र की गंभीर उत्सुकता, पिता के आश्चर्यजनक तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा बढ़ा दी जाती है। श्वेतकेतु उस विषय पर और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की प्रार्थना करता है। पिता एक अचल स्वर में कहता जाता है—"तुम वह हो। प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत सत्य है। परन्तु जब तक वह शरीर के साथ संयुक्त है, वह इसे नहीं जानता। परन्तु मनुष्य, जिसने एक तत्त्वद्रष्टा गुरु से वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया है उसे उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक कि उसको इस शरीरबंधन से छुटकारा नहीं मिल जाता। तत्पश्चात् वह 'सत्य' को प्राप्त कर लेता है।"

इसी प्रकार सप्तम प्रपाठक नारद और सनत्कुमार का संभाषण है। नारद एक जिज्ञासु के रूप में ऋषि सनत्कुमार के पास जाते हैं और उनके द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं। सनत्कुमार उनसे पूछते हैं कि अब तक उन्होंने कितना ज्ञान अर्जित किया है। जब नारद उनसे बताते हैं कि उन्होंने चारों वेदों को तथा प्रचलित विभिन्न सभी विज्ञानों को पढ़ा है, तब वे घोषणा करते हैं कि ये केवल नाममात्र हैं। कुछ

---

१. छां० उ० ६. ८. ७।

साधारण प्रारंभिक सम्भाषण के पश्चात् सनत्कुमार सुन्दर भाषा में एक महान् सत्य की उद्घोषणा करते हैं, "जो असीम (भूमा) है, वही सुख है। जो अल्प है; उसमें सुख नहीं[1]।" अग्रिम खण्ड में सनत्कुमार भूमा के स्वरूप का उपबृंहण करने के लिये आगे बढ़ते हैं। "जहाँ कुछ भी अन्य देखा नहीं जाता, सुना और जाना नहीं जाता, वही भूमा है और जहाँ कुछ देखा, सुना और जाना जाता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वह अमृत है; परन्तु जो अल्प है, वह मृत्यु का विषय है। तब हे भगवन्! किसमें भूमा प्रतिष्ठित है? वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है अथवा उसमें भी नहीं[2]।" "वह नीचे है, ऊपर है, पीछे है, सम्मुख है, दक्षिण की ओर है। वह बाईं ओर है। वह यह सब कुछ है[3]।" इस भूमा का तादात्म्य आत्मा के साथ किया गया है। अतः यह कहा जाता है कि "मैं नीचे हूँ। मैं ऊपर हूँ। मैं पीछे हूँ। मैं सम्मुख हूँ। मैं दाहिनी ओर हूँ। मैं बाईं ओर हूँ। मैं सबमें हूँ[4]।" "जो इस प्रकार देखता और जानता है वह आत्मवान् हो जाता है; वह आत्मा में ही रमण करता है और आत्मा में ही आह्लादित होता है तथा आत्मा से संयुक्त हो जाता है एवं 'स्वराट्' होता है। वह सभी लोकों में स्वेच्छया विचरण करता है[5]।" यहाँ सनत्कुमार की शिक्षा और उद्दालक आरुणि की शिक्षा एक हो जाती है। सनत्कुमार इस मौलिक सत्य को भूमा अर्थात्

---

१. छां० उ० ७. २३. १। २. छां० उ० ७. २४. १। ३. छां० उ० ७. ३०. १। ४. छां० उ० ७. २५. १। ५. छां० उ० ७. २५. २।

'अपरिमित' कहते हैं और आरुणि इसे ही अणिमा अथवा अदृष्ट कहते हैं। यह कहना संदेहास्पद है कि छान्दोग्य के ६ ठे और ७ वें अध्याय के विषय का मौलिक आधार एक ही है अथवा भिन्न।

अष्टम प्रपाठक में शरीर और आत्मा के पार्थक्य का विश्लेषण है। प्रारंभिक खण्ड में यह कहा गया है कि शरीर के अन्दर पुण्डरीक के आकार का एक स्थान (वेश्म) है, उसके अन्दर एक छोटा सा आकाश है। जो इस आकाश में निवास करता है वही आत्मा या जीव है। जब शरीर नष्ट अथवा रोगग्रस्त हो जाता है, तो आत्मा नष्ट अथवा रोग-ग्रस्त नहीं होती। आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, दुःख तथा क्षुधा से रहित है। "जो इस शरीर से निकलकर अपने रूप से ही प्रकाशित होता है, वह आत्मा है। वह मृत्यु तथा भय से रहित है। वह ब्रह्म है। उस ब्रह्म का नाम सत्य है[१]।"

मृत्यु के समय आत्मा शरीर को छोड़कर ऊपर जाती है। शरीर और आत्मा के इस भेद को एक आख्यायिका द्वारा जोर देकर समझाया गया है। यह प्रजापति, इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका है, जो इस प्रपाठक के उत्तरार्ध में है। देवताओं और असुरों ने प्रजापति से यह सुना कि आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, दुःख, क्षुधा और पिपासा से रहित है। इसे जानने के लिये वे समुत्सुक हुए। देवताओं ने इन्द्र को तथा असुरों ने विरोचन को प्रजापति के पास ज्ञान प्राप्त करने के

१. छां० उ० ८. ३. ८।

लिए भेजा। इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापति के पास गये और आत्मा के ज्ञान के लिये उनसे प्रार्थना की। प्रजापति ने जो सर्वप्रथम बताया वह यह था कि शरीर आत्मा है। विरोचन इससे सन्तुष्ट होकर असुरों के पास लौट आये। इन्द्र सन्तुष्ट नहीं हुए और जब लौटने लगे तब इस ज्ञान को त्रुटिपूर्ण समझा। वह पुनः प्रजापति के पास गये और उनके द्वारा दिये गये ज्ञान की अपूर्णता को बताया। प्रजापति ने इसे स्वीकार किया और ३२ वर्ष तक अपने साथ रहने के लिए इन्द्र से कहा। इस अवधि की समाप्ति पर प्रजापति ने उनसे कहा कि जो पुरुष स्वप्न में प्रकट होता है, वही आत्मा है। इन्द्र फिर भी इस उत्तर से असन्तुष्ट ही रहे और पुनः पुनः टालमटोलवाले उत्तर देने के बाद प्रजापति ने वास्तविक ज्ञान को इस प्रकार दिया—"हे मघवन्! यह शरीर मरणशील और मृत्यु का विषय है। परन्तु यह अमृत, अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है। यह शरीर प्रिय और अप्रिय का विषय है; परन्तु अशरीरी आत्मा प्रिय और अप्रिय का विषय नहीं। जिस प्रकार वायु, विद्युत् तथा स्तनयित्नु शरीररहित हैं परन्तु आकाश से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आत्मा, जा शरीररहित है, शरीर से उत्पन्न होती है[1]।" "जिस प्रकार एक अश्व रथ से युक्त होता है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से युक्त होती है[2]।" "वह जो शरीर में रहता हुआ इसे जानता है, वही आत्मा है। वह इस शरीर में अनुविषण्ण चक्षु को आत्मा मानता

---

१. छां० उ० ८. १२. १। २. छां० उ० ८. १२. ३।

है, क्योंकि चक्षु ही देखने के एकमात्र साधन हैं। वह इस शरीर में अनुविषएण वाणी को आत्मा मानता है, क्योंकि वाणी ही बोलने की इन्द्रिय है[१]।" जिस प्रकार अश्व अपने रोमों को हिलाकर उन्हें गिरा देता है, उसी प्रकार आत्मा पाप का विधूनन कर देती है। जैसे राहु के मुख से चन्द्रमा निकल आता है, वैसे ही आत्मा शरीर से निकलकर मुक्त हो जाती है और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ब्रह्मलोक को चली जाती है।

———

१. छां० उ० ८. १२. ४-५।

अध्याय १०

बृहदारण्यकोपनिषद्

"आत्म-त्याग में प्रियता का जीवन वस्तुतः मुक्ति का जीवन है।"

छान्दोग्य के पश्चात् सबसे बड़ा उपनिषद् बृहदारण्यक है। कालगणना के अनुसार बृहदारण्यक छान्दोग्य का समसामयिक प्रतीत होता है। छान्दोग्य सम्भवतः कुछ पहले का है। छान्दोग्य में वर्णित कुछ ऋषि बृहदारण्यक में भी दिखाई पड़ते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् का सर्वश्रेष्ठ आचार्य उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु के साथ बृहदारण्यक में भी ठीक उसी रूपरेखा के साथ वर्णित है। इसी भाँति पाञ्चालदेश का क्षत्रियराजा प्रवाहण जैवलि भी उसी सम्बन्ध में उल्लिखित हैं जिस सम्बन्ध में कि छान्दोग्य में। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं। ये दोनों उपनिषद् उन तत्कालीन आचार्यों और व्यक्तियों का उल्लेख करते हैं जिनका हम आज भी स्मरण करते हैं। छान्दोग्य का एक दूसरा ऋषि, जिसका बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख है, उशस्ति चाक्रायण है। परन्तु दूसरी ओर छान्दोग्य में बृहदारण्यकोपनिषद् के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋषि याज्ञवल्क्य का कुछ

भी उल्लेख नहीं हुआ है, जो इस बात की सूचना देता है कि जब छान्दोग्य उपनिषद् का निर्माण हुआ था, उस समय याज्ञवल्क्य या तो उत्पन्न नहीं हुए थे या इस प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त हुए थे। छान्दोग्य के वर्ण्य विषय का बहुत बड़ा भाग बृहदारण्यकोपनिषद् में पुनः दिखलाई पड़ता है। यद्यपि इसमें भाषा कुछ भिन्न है परन्तु विचार पूर्णतः समान हैं। इसी प्रकार प्रजापति की दोनों संतानों—देवता और असुरों—में देवताओं के प्रयत्न को निष्फल बनाकर उन्हें विजित करने की कथा बृहदारण्यकोपनिषद् (१-३) में पाई जाती है। इसी प्रकार अपनी श्रेष्ठता के लिए प्रतिस्पर्धा करती हुई इंद्रियों की आख्यायिका, शब्द प्रतिशब्द रूप में—पूर्णतया समान रूप में—छान्दोग्य (५.१.७) और बृहदारण्यकोपनिषद् (६.१.६) में मिलती है। पुनः पाञ्चालदेश के राजा की सभा में जाते हुए श्वेतकेतु तथा उस विद्वान् क्षत्रिय के द्वारा निरुत्तर होकर अन्ततोगत्वा अपने पिता के साथ (छां० उ० ५. ३) उससे शिक्षा लेने के लिए जाने की कथा का प्रत्येक विवरण बृहदारण्यकोपनिषद् (६. २) में दी गई कथा के समान है, यद्यपि भाषा कुछ भिन्न है। इससे यह स्पष्ट है कि ये उपाख्यान एक ही परम्परा के विविध रूप हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक विभिन्न स्थानों में—परन्तु रचनाकाल की दृष्टि से एक दूसरे से अधिक दूर नहीं—रचे गये होंगे। हम यह सोचने के लिए विवश होते हैं कि बृहदारण्यक कुछ पीछे का है, क्योंकि उसमें उपनिषद् के मुख्य विचार अधिक निश्चित और नियमित रूप में व्यक्त किये गये हैं। उस श्रेष्ठ

सत्य की एकता और सर्वव्यापकता विशेष बल के साथ घोषित की गई है। इस श्रेष्ठ सत्य के साथ किसी वैदिक देवता का तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति बहुत कम है। यद्यपि छान्दोग्य की भाँति बृहदारण्यक में प्रायः इस श्रेष्ठ सत्य को वायु या आदित्य कहा गया है, परन्तु यह स्थिति बड़े पैमाने में ब्रह्म या आत्मा की है। बृहदारण्यकोपनिषद् में श्रेष्ठ सत्य को आत्मा के रूप में बताया गया है। "आत्मा देखने, सुनने, मनन करने तथा निदिध्यासन करने योग्य है[1]।" "यह अंतरात्मा पुत्र, धन तथा प्रत्येक वस्तु से अधिक प्रिय है[2]।" "यह जो तेजोमय और अमृतमय पुरुष है, वही यह अमृत आत्मा है। यही सब कुछ है[3]।" जगत् की सृष्टि भी आत्मा ही से बताई गई है। "प्रारम्भ में यह केवल आत्मा ही पुरुष के रूप में थी[4]।" इस नाना रूपात्मक जगत् की सृष्टि का विवरण साधारण परम्परा पर आधारित है, और वह किसी विशेष महत्त्व का नहीं है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि इसे आत्मा कहा गया है। छान्दोग्य का 'सत्' अथवा 'असत्' नहीं। परन्तु छान्दोग्य की भाँति बृहदारण्यक भी इस बात पर दृढ़ नहीं है। अन्यत्र मृत्यु को 'मूलसत्' कहा गया है। "प्रारम्भ में कुछ भी (देखा जानेवाला) नहीं था। मृत्यु के द्वारा यह सब आच्छादित था[5]।" आत्मा या ब्रह्मविषयक विचारों के विषय बृहदारण्यक में पूर्णतया विकसित किये गये हैं।

---

१. बृ० उ० २. ४. ५ ; २. बृ० उ० २. ४. ८ ; ३. बृ० उ० २. ५. ४ ; ४. बृ० उ० १. ४. १ ; ५. १. २. १ ।

"वह सभी के अन्दर रहनेवाला कहा जाता है[१]।" "वह, जो पृथिवी के अन्दर रहता हुआ पृथ्वी की अन्तरात्मा है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका शरीर यह पृथिवी है, जो पृथ्वी के ऊपर है और इसका नियमन करता है, वह आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है। वह जो जल में रहता हुआ जल का अन्तरात्मा है, जिसको जल नहीं जानता, जिसका शरीर जल है, जो केवल जलरूप है और उसका नियमन करता है, वह आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है[२]।" वह जो आकाश, वायु, द्यौ तथा सूर्य में रहता है; वह प्रत्येक वस्तु में रहनेवाला उद्घोषित किया गया है। "जो सभी प्राणियों में ओत-प्रोत है, उनके भीतर है, जिसको सभी प्राणी नहीं जानते जिसका शरीर सभी प्राणी हैं और जो अन्दर से सभी प्राणियों का प्रशासन करता है वही तुम्हारा आत्मा है, वह अन्दर से प्रशासन करता है और अमृत है[३]।" वह देखा नहीं जा सकता; अपितु वह सबको देखता है। "तुम दृष्टि के (वास्तविक) द्रष्टा को, श्रुति के (वास्तविक) श्रोता को, मति के मन्ता एवं बिज्ञान के विज्ञाता को नहीं देख सकते। यह तुम्हारी आत्मा है, जो सभी के अन्दर है[४]।" सम्पूर्ण संसार एक सर्वश्रेष्ठ सत्य में मूलरूप में निहित और आधारित है, यह बात बलपूर्वक उद्घोषित की गई है, जो कि एक निश्चित धारणा की सूचना देती है। जनक की राजसभा में एकत्रित ऋषियों के साथ याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ में गार्गी दो प्रश्नों को लेकर

---

१. ३.४.१; २. ३.७.४-५; ३. ३.७.१५; ४. ३.४.२।

उपस्थित होती है और कहती है, "यदि याज्ञवल्क्य, इन दोनों प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर दे सकते हैं, तो वह (गार्गी) सर्वश्रेष्ठ ज्ञान में उनका आधिपत्य स्वीकार कर लेगी।" उसका प्रथम प्रश्न यह है—"याज्ञवल्क्य ! जिसके विषय में लोग कहते हैं कि जो द्युलोक के ऊपर है, जो पृथिवी के नीचे है, जो द्यावापृथिवी के बीच में है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य है, बताइये, वह किसमें ताना-बाना की तरह ओतप्रोत है[1]।" याज्ञवल्क्य ने कहा, "यह आकाश है।" पुनः गार्गी ने आगे पूछा, "आकाश किसमें ओतप्रोत है ?" याज्ञवल्क्य के द्वारा दिया गया इस अग्रिम प्रश्न का उत्तर ब्रह्म के स्वरूप की स्मरणीय उद्घोषणा है। इसमें भाषा की प्राञ्जलता और विचार की प्रवणता है। यहाँ वह अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा गया है, जो संसार का शासन और नियमन करता है। "हे गार्गि ! उस अक्षर के शासन में द्यावापृथिवी पृथक्-पृथक् रूप से स्थित रहते हैं। उसी अक्षर के शासन से जो कि निमेष, मुहूर्त्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु तथा वर्ष कहे जाते हैं, सभी पृथक्-पृथक् स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! उसी अक्षर के प्रशासन से कुछ नदियाँ श्वेत पर्वतों से पूर्व को बहती हैं और दूसरी पश्चिम अथवा किसी अन्य दिशा में[2]।"

आत्मा और जगत् का सम्बन्ध बृहदारण्यकोपनिषद् में दो उपमाओं द्वारा दिखलाया गया है। "जिस प्रकार ऊर्ण-

---

१. ३. ८. ३।   २. ३. ८. ९।

नाभि अपने तन्तु के साथ बाहर आता है अथवा जैसे क्षुद्र स्फुलिंग अग्नि से बाहर निकलते हैं; उसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ, सभी लोक, सभी देव तथा सभी भूत उस आत्मा से उत्पन्न होते हैं[१]।"

आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता याज्ञवल्क्य और गार्गी के स्मरणीय शास्त्रार्थ के बहुत ही सुन्दर और प्रबोधक अंशों द्वारा घोषित की गई है।

बृहदारण्यक में हम अद्वैतविषयक गम्भीर दार्शनिक विचार पाते हैं। बृहदारण्यक का रचयिता पूर्व और पश्चिम के अर्वाचीन दर्शन के इस रोचक नियम पर पहले ही पहुँच चुका है कि प्रत्येक वाक्य का अर्थ परिमित है और हम अपरिमित के विषय में कुछ भी नहीं कह सकते। बृहदारण्यक पुनः पुनः इस निश्चय पर पहुँचता है कि आत्मा इस प्रकार परिभाष्य है कि "वह यह नहीं है, वह यह नहीं है[२]।" याज्ञवल्क्य ने कहा—"गार्गि! ब्राह्मण-ग्रन्थ इसको अक्षर कहते हैं। यह न तो स्थूल है न अणु, न तो ह्रस्व है न दीर्घ, न तो अग्नि की भाँति लोहित है और न जल की भाँति स्निग्ध। यह विना छाया, विना तम, विना वायु, विना आकाश, विना संग, विना रस, विना गन्ध, विना चक्षु, विना कर्ण, विना वाक्, विना मन, विना तेज, विना प्राण, विना मुख, विना मात्रा का है और अन्तर तथा बाह्य से शून्य है[३]।" उन्होंने कहा—"हे गार्गि! ब्राह्मण-ग्रन्थों ने उसे न महत् न अणु, तथा न लम्बा न छोटा बताया है।"

१. २. १. २०। २. २. ३. ६; ३. ९. १६। ३. ३. ८. ८।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बृहदारण्यक ने अनन्त परमात्मविषयक विवेचना को अद्वैत के न्यायसंगत अन्तिम परिणाम के साथ सुविस्तृत किया है।

परमात्मा की एकता के पक्ष में यह प्रबल एकेश्वरवाद पर पहुँचता है। ब्रह्म ही सब कुछ है। उन्होंने कहा—"पति, पति की कामना से प्रिय नहीं होता; अपितु आत्मा की कामना से प्रिय है। पत्नी, पत्नी की कामना से प्रिय नहीं; अपितु आत्मा की कामना से प्रिय है[1]।" और इस प्रकार यह प्रसंग इस रोचक घोषणा के साथ समाप्त हो जाता है, "इस सबको ब्रह्म जानो; यह क्षत्रिय ये लोक, ये देवता, ये जीव, तथा जो कुछ सत्तावान् है, वह सब आत्मा है[2]।" यहाँ हम वही विचार पाते हैं, जो कि छान्दोग्य में 'सर्वं खल्विदं' द्वारा व्यक्त है, अन्तर केवल यह है कि यहाँ ये विचार कुछ अधिक व्याख्यात हैं और इस व्याख्यानात्मक भूमिका पर पहुँचते-पहुँचते उनकी सुन्दरता और गहनता कुछ कम पड़ गई है। सत्तामात्र के ऐक्य के विचार को अधिक विकसित करते हुए बृहदारण्यक ज्ञान की पूर्णता की असम्भावना को घोषित करता है, क्योंकि ज्ञान के लिए 'विषय' और विषयी की पूर्वस्थिति आवश्यक है। "जब पुरुष को द्वैत का भान होता है, तो एक दूसरे का घ्राण करता है, एक दूसरे का श्रवण करता है, एक दूसरे का अभिवादन करता है, एक दूसरे का मनन करता है, एक दूसरे को जानता है, परन्तु जब केवल यह सब आत्मा ही है तो वह एक दूसरे

---

१. २.४.५। २. २.४.६।

का घ्राण कैसे कर सकता है, वह दूसरे को देख कैसे सकता है, वह दूसरे का सुन कैसे सकता है, वह दूसरे का अभिवादन कैसे कर सकता है, वह दूसरे का मनन कैसे कर सकता है और दूसरे को कैसे जान सकता है। वह उसे कैसे जान सकता है, जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है। प्रिये! वह ज्ञाता (स्वयं अपने) को कैसे जान सकता है[१]।" छान्दोग्य में निहित विचार का यह अत्यधिक स्पष्ट कथन है, "जहाँ और कुछ दूसरा पदार्थ देखा नहीं जाता, दूसरा सुना नहीं जाता, दूसरा जाना नहीं जाता, वही अनन्त है।"

छान्दोग्य के आत्मा और परमात्मा की एकता के अत्यन्त रोचक विचार को बृहदारण्यक उतनी गंभीरता के साथ नहीं लेता। एक या दो बार यह विचार बृहदारण्यकोपनिषद् में आता है। "वह जो जानता कि मैं ब्रह्म हूँ, वह सब कुछ हो जाता है[२]।" परन्तु हम यहाँ इस विचार का वास्तविक और प्रोत्साहक साक्षात्कार नहीं पाते, जैसा कि छान्दोग्य के 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' में दिखाई देता है।

बृहदारण्यक में कर्म का सिद्धांत बड़ी दृढ़ता के साथ स्वीकार किया गया है। वहाँ यह कहा गया है कि प्रत्येक कार्य चाहे अच्छा हो या बुरा चरित्र पर अमिट छाप डालता है। "वस्तुतः यह उसके (मनुष्य के) कार्य ही हैं, जो उसे मनुष्य बनाते हैं। वह जो साधुता के साथ कार्य करता है साधु हो जाता है और जो पापकर्म करता है; पापी हो जाता है। मनुष्य पुण्यकर्मों से पुण्यवान् और पापकर्मों से पापी होता है[३]।"

---

१. २.४.१४। २. २.४.१०। ३. ४.४.५।

आगे चलकर हम बृहदारण्यक में एक बहुत ही विचित्र अंश पाते हैं, जो कर्मसिद्धान्त के अर्वाचीन विकास की हमें पूर्व सूचना दे देता है। जनक की राजसभा में एकत्रित ऋषियों और याज्ञवल्क्य के बीच आध्यात्मिक वादविवाद के समय जरत्कारव आर्तभग कहता है, "जब मनुष्य मरता है तो उसकी वाणी अग्नि में प्रविष्ट हो जाती है, उसके प्राण वायु में चले जाते हैं, नेत्र सूर्य में तथा मन चन्द्रमा में इत्यादि। उस समय मनुष्य का क्या होता है[1] ?" याज्ञवल्क्य आर्तभग का हाथ पकड़कर कहते हैं, "हमें आपस में ही इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए, सबके समक्ष नहीं।" अतः वह दोनों बाहर चले जाते हैं और उस विषय पर विचार-विनिमय करते हैं। हमें उनके वाद-विवाद की पूर्ण विज्ञप्ति नहीं मिलती। परन्तु संक्षेपतः यह कहा गया है कि जिस विषय की उन्होंने विवेचना की वह 'कर्म' का विषय था। उन्होंने कर्म का ही महत्त्व दिखाया था। "जो कुछ उन्होंने कहा 'कर्म' था और जिसकी प्रशंसा की वह भी कर्म ही था[2]।" [अब यह प्रश्न होता है] तो क्या याज्ञवल्क्य पहले ही उस विचारभूमिका पर पहुँच गये थे, जिसका बौद्धधर्म ने अनेक शताब्दियों बाद दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया कि कर्म से भिन्न या पृथक् आत्मा की सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण शास्त्रार्थ तथा उसकी गोपनीयता और रहस्यात्मकता से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों याज्ञवल्क्य इस

१. ३. २. १३ } मूलग्रन्थ में दिये गये ये दोनों हवाले भ्रामक
२. ३. २. १३ } हैं—(अनु०)

निष्कर्ष पर पहुँच तो चुके थे, परन्तु उन्होंने इसे सार्वजनिक रूप देना उचित नहीं समझा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों के बड़े जोरदार विचार बृहदारण्यक उपनिषद् में पूर्णतः विकसित हो गये हैं। विचारों की उच्चता और उनकी अभिव्यक्ति की चारुता की दृष्टि से सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य में—चाहे वह उसके बाद का हो या पहले का—इसका अतिक्रमण नहीं किया जा सका।

अध्याय ११

ईशोपनिषद्

"मानव-जीवन की नाट्यशाला में केवल ईश्वर और देवदूत ही दर्शक रह सकते हैं।"

उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध साहित्य में एक छोटी सी पुस्तक है जो अपने प्रथम मन्त्र के प्रथम शब्द (ईश) के आधार पर ईश अथवा ईशावास्योपनिषद् के नाम से विख्यात है। यद्यपि इसकी मंत्र-संख्या केवल अठारह ही है फिर भी सभी व्याख्याकारों ने इसे उच्च स्थान दिया है। शुक्ल यजुर्वेद के चौदहवें अध्याय का मन्त्रभाग होने के कारण यह यजुर्वेदसंहिता का ही एक अंश है। छोटा होने के साथ ही साथ यह बहुत ही दुर्बोध और प्रायः गूढ़ार्थक भी है और इसमें प्रतिपादित विषयों की एकरूपता संदेहपूर्ण है। इसके अन्तिम कुछ मंत्र वैदिक देवताओं—पूषा, यम, सूर्य, अग्नि—का निरूपण करते हैं और निस्सन्देह वैदिक मन्त्रों से सम्बन्धित हैं। किन्तु पूर्व के मन्त्र उपनिषद् के सामान्य विषयों का ही वर्णन करते हैं। इन अठारह मंत्रों में परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध बहुत थोड़ा है, ऐसा प्रतीत होता है।

आरम्भिक मन्त्र उपनिषद् के सच्चे आशय को यह कहकर

प्रकट करता है कि सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से आच्छाद्य है। यह उल्लेखनीय है कि इस उपनिषद् में, सामान्यतया प्रचलित ब्रह्मन् अथवा आत्मन् शब्द के स्थान पर 'ईश' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो शब्द कि बहुत बाद का है। मन्त्र का उत्तरार्द्ध भाग इन नीतिवचनों का उपदेश करता है कि किसी के भी धन की आकांक्षा मत करो। उतने का ही उपभोग करो जितना तुमको ईश्वर ने प्रदान किया है। दूसरा मन्त्र निर्देश करता है कि हरएक व्यक्ति को यहाँ पर अपना कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार की सम्मति देना कुछ विचित्र सा लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों में, जिन्हें (अब तक) जीवन इतना मधुर और कार्यकलाप इतना आकर्षक रहा था, कर्म और जीवन-संबंधिनी परिश्रान्ति के प्रति घृणा उत्पन्न हो चुकी थी। 'कर्म बेड़ी है अथवा बन्धन है' इस धारणा ने लोगों के मस्तिष्क में अवश्य ही जड़ जमा ली होगी। अतएव यह संकेत किया गया है कि अन्य कोई उपाय है ही नहीं, और जब इस भावना से युक्त होकर कर्म किया जाता है तब उसके फल से मनुष्य लिप्त नहीं होता। अधिक दिन तक जीवित न रहने की ओर सम्भवतः जीवन का अन्त कर देने की इच्छा बहुत ही साधारण हो गई होगी। इसी लिए आज्ञा दी गई है कि पुरुष सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करे।

अगला मन्त्र तो और भी अधिक आश्चर्यजनक है। अक्षरशः इसका अभिप्राय है कि जो अपनी हत्या (आत्महत्या) करते हैं (आत्महन हैं), वे आसुर लोक को प्राप्त करते हैं जो

कि घने अन्धकार से आच्छादित है। शंकर और अन्य व्याख्याकार इसको लाक्षणिक रूप में लेते हुए, आत्महन शब्द का यह अर्थ करते हैं—वे लोग जो काम्यकर्म में रत हैं, अतएव आत्म की हत्या करनेवाले हैं। यह कहना, अर्थ की खींचातानी करना है। इस प्रसंग में ऐसा संकेत अन्यत्र नहीं मिलता है। इसका वाच्यार्थ प्रसंग के अनुकूल है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन-क्षोभ, जिसका पिछले मन्त्र में संकेत हो चुका है; इतना भयानक रूप धारण कर चुका था कि लोग अपनी जीवन-लीला का अन्त कर लेते थे। अतः ऋषि कहता है कि उन लोगों को आसुर लोक को जाना पड़ता है जो अपने जीवन का इस प्रकार से हठात् अन्त करते हैं। यह सर्वविदित है कि वैदिक युग के अन्तिम काल में जीवन के प्रति लोगों में अत्यन्त तीव्र घृणा हो गयी थी; और चारों ओर प्रबल निराशा की लहर फैली हुई थी, जिसके फलस्वरूप लोग समाज का और सम्भवतः जीवन का भी परित्याग कर रहे थे। जिन मन्त्रों की यहाँ पर व्याख्या हो रही है, वे इन परिस्थितियों की ओर संकेत करते हैं। ईशोपनिषद् उपदेश देता है कि अपने जीवन का बलात् अन्त करने का किसी को भी अधिकार नहीं है, वरन् अपना कर्म करते हुए और अपने परिश्रम का फल भोगते हुए, किन्तु (किसी भी) अन्य की धन-सम्पत्ति की आकांक्षा न करते हुए, सौ वर्ष तक जीवित रहने की—जो जीवन की साधारण अवधि है—इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार मूल-ग्रन्थ के तीन मन्त्रों का स्पष्ट और उपयुक्त अर्थ हमें प्राप्त हो जाता है।

अगले दो मन्त्रों का प्रथम तीन मन्त्रों से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। वे परमात्मा के दैविक स्वरूप को प्रकट करते हैं, जो (परमात्मा) प्रत्येक वस्तु में—चाहे वह निकट की हो या बहुत दूर की—मन से भी अधिक द्रुतवेग से व्याप्त हो जाता हैं और जो सबके भीतर भी है और सबके बाहर भी है।

अगले दो मन्त्र उतने ही सुन्दर हैं जितने कि वे उत्कृष्ट हैं, और ये दो ही मंत्र इस ग्रन्थ को अमर कर देने को पर्याप्त हैं। उपनिषद्-साहित्य के वे मुकुट हैं। जो ईश्वर में सब वस्तुओं को और सब वस्तुओं में ईश्वर को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता और न किसी से अपने को पृथक् रखता है। विधेयांश का 'विजुगुप्सते' शब्द गुप् (धातु) से निकला है जिसका अर्थ रक्षा करना अथवा किसी से पृथक् होना है। प्रत्येक वस्तु को अपना ही देखने का हिन्दू-सिद्धान्त वास्तव में बहुत ही उच्चकोटि का है। हमें दूसरों का हित क्यों करना चाहिए, अथवा अधिक से अधिक लोगों के परम हित को हम उच्चतम नैतिकता क्यों मानते हैं? हिन्दुओं की इस धारणा से कि वही आत्मा प्रत्येक में है, इसकी व्याख्या करना बड़ा ही सरल हो जाता है। इस धारणा का उद्गम-स्थल हमें ईशोपनिषद् के मन्त्र में ही प्राप्त होता है। और यहाँ से ही इसने उच्चतर हिन्दू-विचारों को प्रभावित किया है।

सातवाँ मन्त्र इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु का प्रतिपादन करता है। यह केवल यही नहीं कहता है कि ईश्वर सबमें व्याप्त है और सब ईश्वर में है, वरन् यह भी (कहता है) कि ईश्वर ही सब कुछ हो जाता है। जिसे सच्चा ज्ञान है,

उसके लिए सब कुछ ईश्वर ही है। यह छान्दोग्योपनिषद् का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है।

किन्तु ईशोपनिषद् की प्रधान शिक्षा हमें ९वें से १४वें मंत्र तक में मिलती है। ये मंत्र गूढ़ार्थक हैं। यहाँ पर ऋषि, विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति दोनों की ही—विपरीत मार्गों के दो जोड़ों की—निन्दा करता है। शंकर अविद्या का अर्थ विहित-कर्म, 'अग्निहोत्रादिकम् कर्म', और विद्या का अर्थ देवज्ञान करते हैं। ऋषि का इन शब्दों से वस्तुतः क्या अभिप्राय है, इसे स्पष्ट करना सरल नहीं है। नवाँ मन्त्र कहता है जो अविद्या की सेवा या उपासना करते हैं वे अन्धकार के प्रदेशों में प्रवेश करते हैं और जो विद्या की उपासना करते हैं वे और भी अधिक अन्धकारवाले प्रदेशों में प्रवेश करते हैं। यह बड़ा ही विचित्र है। उपनिषद्, सामान्य रूप से, कर्म की अपेक्षा ज्ञान के समाश्रयण का उपदेश देते हैं। यहाँ केवल विद्या और अविद्या का ही तिरस्कार नहीं किया गया है, वरन् ज्ञान के अर्थात् विद्या के उपासक के लिए कहा गया है कि वह और भी घने अन्धकार में प्रवेश करता है। सम्भवतः ऋषि का अभिप्राय कर्म अथवा ज्ञान के आत्यन्तिक रूप से आश्रय की निन्दा से है और वह ज्ञान और कर्म की साथ ही साथ बराबर उन्नति के लिए आज्ञा देता है। रामानुज इसको इसी अर्थ में ग्रहण करते हैं। अगला मन्त्र इसी प्रकार की व्याख्या को प्रमाणित भी करता है। वह कहता है, पुरुष कर्म से मृत्यु को पार करके ज्ञान से अमरत्व का भोग करता है। यदि यह व्याख्या ठीक है, तो (हम कह सकते हैं कि)

हम यहाँ पर ज्ञान और कर्म में सामञ्जस्य अथवा विरोध के निराकरण का प्रयत्न पाते हैं, जिसे कि भगवद्गीता ने और भी अधिक तत्परता से किया था। जो भी हो, ईशोपनिषद् के (यह) कतिपय मन्त्र उस युग की एक महत्त्वपूर्ण देन हैं और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इसके ही कारण विचारकों ने परम्परा से इस उपनिषद् को इतना ऊँचा स्थान दिया है।

अध्याय १२

कठोपनिषद्

"मैं जानता हूँ कि वह दिन आयेगा जब कि इस पृथ्वी का दृश्य ओझल हो जायेगा, जीवन शान्तिपूर्वक अवकाश ग्रहण कर लेगा और मेरी आँखें सदैव के लिए बन्द हो जायेंगी।"—रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

कठोपनिषद् उत्तम उपनिषदों में से एक है और सबसे अधिक लोकप्रिय है जिसके कि वह योग्य है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में तीन वल्लियाँ हैं। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से इसका विभिन्न रूप से सम्बन्ध रहा है, किन्तु सामान्यतथा इसको अथर्ववेद का उपनिषद् माना जाता है। इसमें मृत्युदेव यमराज और वाजश्रवस् ऋषि के पुत्र, ब्राह्मणकुमार, नचिकेता का संवाद है।

उस समय की साधारण प्रथा के अनुसार वाजश्रवस् पारलौकिक आनन्द का इच्छुक था। इसी अभिलाषा से उसने यज्ञ किया था जिसमें उसने ब्राह्मणों को बहुत दान दिया। उसके युवा पुत्र नचिकेता ने, जो सम्पूर्ण क्रिया-कलाप देख रहा था, देखा कि उसका पिता ब्राह्मणों को बूढ़ी और

बेकार गायें दान में दे रहा है। उसको अपने पिता का यह कुटिल कार्य अच्छा न लगा और उसने पिता से कहा—"पिताजी, आप मुझे किसको देते हैं ?"

वाजश्रवस् को अपने पुत्र के व्यवहार पर क्रोध आ गया और वह आवेश में बोला—"तुझे देता हूँ मृत्यु को।"

तैत्तिरीय यजुर्वेद के ब्राह्मण (३. १. ८) में भी यह कथा मिलती है और सम्भवतः यही कारण है कि कठोपनिषद् को यजुर्वेद से जोड़ा गया है। तैत्तिरीय यजुर्वेद के ब्राह्मण में इसके आगे कथा इस प्रकार चलती है— तब युवक गौतम को, जैसे ही कि वह खड़ा हुआ, यह वाणी सुनाई दी—"उसने (तेरे पिता ने) कहा है, जा मृत्यु के घर, मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ। अतः मृत्यु के पास जा, जब कि वह (अपने) घर पर न हो और उसके घर पर विना कुछ खाये-पिये तीन रात ठहर। यदि वह तुझसे पूछे, 'बालक, तू यहाँ कितनी रातों से है ?' तो कहना, 'तीन'। जब वह तुझसे पूछे, 'तूने प्रथम रात को क्या खाया ?' तो कहना, 'तेरी सन्तान।' 'तूने दूसरी रात को क्या खाया ?' 'तेरा पशु (बैल)।' 'तीसरी रात को तूने क्या खाया ?' 'तेरे शुभकर्म (पुण्य)'।" कठोपनिषद् में यह भाग नहीं मिलता है। किन्तु कठोपनिषद् और तैत्तिरीय यजुर्वेद का ब्राह्मण यह अवश्य कहता है कि नचिकेता, यम की अनुपस्थिति में उसके घर पर गया और विना खाये हुए वहाँ तीन रात ठहरा। यम, घर लौटने पर, यह जानकर बड़ा दुखी हुआ कि ब्राह्मण अतिथि उसके घर पर तीन रात से अनशन किए बैठा है और उस अपराध

के प्रायश्चित्तस्वरूप उसने नचिकेता को तीन वरदान दिए। प्रथम वर के रूप में नचिकेता ने यह माँगा कि उसका पिता चिन्ता और क्रोध से मुक्त हो जाय और जब वह यम की अनुमति से (अपने घर वापस) लौटे तो वह (पिता) उसको पहचान सके और उसका स्वागत करे। दूसरे वर के रूप में उसने माँगा कि यमराज उसको उस अग्नि का उपदेश दें, जिससे स्वर्ग प्राप्त होता है; जहाँ (स्वर्ग में) न बुढ़ापा है, न भूख है, न प्यास है और न मृत्यु है। यम ने प्रसन्नतापूर्वक यह वर भी दे दिया और कहा कि यह अग्नि नचिकेता के ही नाम से प्रसिद्ध होगी। अब तीसरा वर नचिकेता ने यह कहकर माँगा, "मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या होता है ?" इस विषय में बड़ा सन्देह (फैला हुआ) है। कुछ लोग कहते हैं, वह (आत्मा का अस्तित्व) रहता है, दूसरे लोग कहते हैं, वह (आत्मा का अस्तित्व) नहीं रहता है; इसमें क्या सत्य है, इसका मुझे उपदेश कीजिये। यम नहीं चाहता था कि वह मृत्यु के पश्चात्, मनुष्य के भावी जीवन का रहस्योद्घाटन करे, और (इसलिए) इस ज्ञान के अतिरिक्त अन्य यथेच्छित पदार्थ माँग लेने के लिए कहा। किन्तु नचिकेता (अपने निश्चय पर) दृढ़ रहा कि जो (कुछ) उसने माँगा है उसके अतिरिक्त वह अन्य कुछ भी स्वीकार नहीं करेगा। नचिकेता के उत्तम निश्चय से यम बड़ा प्रसन्न हुआ और अन्त में उसको यह रहस्य बतलाने के लिए प्रवृत्त हुआ।

अब आगामी पाँच वल्लियों में सम्भाषण (यम और

नचिकेता का आत्मज्ञान पर वार्तालाप) चलता है। यह प्रथम वल्ली इस प्रकार के वार्तालाप के लिए एक बहुत ही सुन्दर भूमिका प्रस्तुत करती है, जिस प्रकार कि भगवद्गीता के लिए प्रथम अध्याय एक प्रसिद्ध भूमिका प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार कठोपनिषद् का अभिप्राय है—मृत्यु के पश्चात् (आत्मा के) अस्तित्व के रहस्य का दैवी प्रकाशन। किन्तु, वस्तुतः, इन पाँच वल्लियों में मृत्यु के पश्चात् के जीवन के विषय में कुछ अधिक नहीं लिखा है, यद्यपि इनमें अध्यात्म-विद्या और ईश्वर-ज्ञान-विषयक बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है, जिनमें से मुख्य है 'ब्रह्म का स्वरूप'। जो भी हो, अब भी कठोपनिषद् मृत्यु के बादवाले जीवन (के विषय) का ही दैवी प्रकाशन माना जाता है और ऐसा विधान भी किया गया है कि यह उपनिषद् अन्त्येष्टि क्रियाओं (संस्कारों) में पढ़ा जाय। आम तौर से ऐसे अवसरों पर यह पढ़ा भी जाता है। मृत्यु के बाद जीवन अथवा जीवात्मा के स्वरूप के महत्त्वपूर्ण प्रश्न के सम्बन्ध में कठोपनिषद् में कुछ बहुत ही सारगर्भित और गम्भीर वचन मिलते हैं। प्रथम अध्याय की दूसरी वल्ली में, आत्मा के सम्बन्ध में कहते हुए वह (उपनिषद्) घोषित करता है, "ज्ञानपूर्ण (विपश्चित्) आत्मा जन्म नहीं लेती है, (और) न मरती है। न वह किसी से उत्पन्न हुई है और न उससे कुछ उत्पन्न हुआ है। वह अज है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है। शरीर के मारे जाने पर भी वह नष्ट नहीं होती। यदि मारनेवाला (हन्ता) सोचता है कि वह मारता है

और मारा जानेवाला (हत) समझता है कि वह मारा जाता है तो वे दोनों ही यथार्थ बात को नहीं जानते। बात यह है, न तो वह मारता है और न वह मारा ही जाता है[१]।" हमें यहाँ पर आत्मा की अमरता की ही नहीं, वरन् उसकी नित्यता की भी स्पष्ट और दृढ़ घोषणा मिलती है। भगवद्गीता ने तो इन मन्त्रों को पूरी तौर से अपना लिया है। यह कहा जा सकता है कि आत्मा की नित्यता के विचार का उद्गम यहीं से हुआ है, जो बाद के सम्पूर्ण हिन्दू-विचारों में ओत-प्रोत हो गया है। इसके पश्चात् एक मन्त्र[२] में कहा गया है कि मृत्यु के अनन्तर कुछ जीव शरीर धारण करने के लिए गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं, अनेक अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार स्थावर पदार्थों में प्रविष्ट होते हैं। मानव-आत्मा के पुनर्जन्म के विचार की स्पष्ट घोषणा हमें यहाँ पर पुनः मिलती है, जिसने बाद की सम्पूर्ण हिन्दू-विचार-धारा को— चाहे वह आस्तिक हो अथवा नास्तिक—व्याप्त कर लिया। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म ने भी, जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है, पूर्व-कृत कर्मों के अनुसार नये सत्व की रचना पर विश्वास प्रकट किया है। जीवात्मा के भविष्य और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में हमें जो कुछ कठोपनिषद् में मिलता है वह अन्य सब दार्शनिक विचारों में भी लागू होता है, जिसकी इतनी गम्भीरता से और उपपत्ति के साथ घोषणा करने का इस उपनिषद् ने दावा किया है। परमात्मा

---

१. कठोप० अ० १, मं० १८-१९। २. कठोप० अ० १, वल्ली १, मं० ७

के स्वरूप और आत्मा से उसके सम्बन्ध के विषय में इस उपनिषद् में बहुत से सुन्दर स्थल हैं। "परमात्मा को महत् (असीम), सर्वव्यापी, अनित्य शरीर में वास करनेवाली शरीररहित आत्मा, इत्यादि कहा गया है[1]।"

उसे फिर "अणु से भी अणुतर, महत् से महत्तर, जीव की गुहा (हृदय) में निहित[2] कहा गया है।"

इसके अनन्तर द्वितीय अध्याय की दूसरी वल्ली में दो श्लोक (१२, १३) बहुत ही सुन्दर हैं।

"एक (अकेला) है, वशी है (सम्पूर्ण जगत् उसके वश में है), सर्वभूतान्तरात्मा है, एक रूप को अनेक प्रकार का करता है, जिसको धीर पुरुष अपनी ही आत्मा में (स्थित) देखते हैं, उन्हीं को सुख शाश्वत है, अन्य को नहीं।"

"वह अनित्यों में नित्य है, चेतन का भी चेतन है; एक होता हुआ भी अनेक को उनकी इच्छानुसार (कर्मानुसार) वस्तुएँ (फल) प्रदान करता है। जिसको धीर पुरुष अपनी ही आत्मा में स्थित देखते हैं, उनकी शान्ति शाश्वत , अन्य की नहीं[3]।"

उसके लिए यह भी कहा है—"जो पुरुष जागता रहता है, जब कि अन्य सब सो रहे होते हैं, वहाँ एक के बाद एक अभिप्रेत वस्तु का निर्माण करता रहता है। वही वस्तुतः शुक्र

---

१. १. २. २८। २. १. २. २०।

३. २. २. १२-१३। [मूलग्रन्थ में १. २. १३ का हवाला ठीक नहीं है]

(शुभ्र, शुद्ध) है, वही ब्रह्म है, उसे ही अमृत (अमर) कहते हैं। ये सम्पूर्ण लोक उसी में श्रित (उसी के आश्रित) हैं, उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता[१]।" परमात्मा को बार-बार और दृढ़तापूर्वक 'सर्वभूतान्तरात्मा'[२] कहा गया है।

परमात्मा को 'प्राण' भी कहा गया है, जिससे यह सब, जो कुछ विद्यमान है, निकला है[३]।

"उसके भय से अग्नि तपती है, उसके भय से सूर्य तपता है[४]।"

जीवात्मा का परमात्मा से जो सम्बन्ध है, उसकी ओर ध्यान दिलाते हुए, उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"छाया और आतप, अपने-अपने कर्मों का, ऋत (कर्म-फल) का पान (भोग) करती हुई, परमोत्तम निवास-स्थान में रहती हुई, गुहा (हृदय) में प्रविष्ट होती हैं[५]।"

यह मंत्र आगेवाले मंत्र का कुछ विकृत सा तात्पर्य प्रकट करता है।

"दो बहुत ही सुन्दर पंखवाले पक्षी, जो सदैव साथ रहने-वाले मित्र हैं, एक ही वृक्ष पर एक साथ निवास करते हैं। उनमें से एक मधुर फल खाता है, दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।" यह मंत्र मूलरूप से ऋग्वेद[६] में मिलता है, और वहाँ से मुण्डकोपनिषद्[७] और श्वेताश्वतरोपनिषद्[८] में उसे अक्षरशः ग्रहण कर लिया गया है।

---

१. २. २. ८; २. २. २. ६-११; ३. २. ३. २; ४. २. ३. ३; ५. १. ३. १; ६. ऋग्वेद १. १६४. २०; ७. मुण्ड० उ० ३. १. १; ८. श्वेत० उ० ४. ६।

मूलस्थान में, दो पक्षियों में से, केवल एक के विषय में ही कहा गया है कि वह मधुर फल खाता है, जब कि दूसरा, न खाता हुआ, केवल देखता रहता है। मुण्डक और श्वेताश्वतरोपनिषद् ने इसे ज्यों का त्यों ले लिया है। दो पक्षियों से अभिप्राय लिया गया है—जीवात्मा और परमात्मा का। दोनों, दो मित्रों के समान इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। और वे समान (एक ही) वृक्ष में (शरीर में) एक साथ निवास करते हैं। किन्तु एक—जीवात्मा—मधुर फल खाता है, अर्थात् अपने कर्मों का फल भोगता है और दूसरा—परमात्मा—केवल देखता रहता है। अर्थात् जीवात्मा के कर्म से प्रभावित नहीं होता। यहाँ पर, यद्यपि कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्मा दो अभिन्न मित्र हैं और एक ही शरीर में एक साथ रहते हैं, साझेदार (जीवात्मा) के कर्म परमात्मा को स्पर्श नहीं करते। मुण्डक और श्वेताश्वतरोपनिषद् ने तो इस मंत्र को बिना किसी परिवर्तन के ग्रहण किया है, किन्तु कठोपनिषद् इसी भाव को लेते हुए कि दोनों एक ही स्थान पर एक साथ रहते हैं और धूप और छाया के समान एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, दोनों को ही सुकर्म के फल का भोगी बना देता है। यह न तो आस्तिक दृष्टिकोण के साथ और न व्यावहारिक ज्ञान के साथ ही मेल खाता है। परमात्मा के लिए यह (कभी भी) नहीं कहा जा सकता कि वह (जीव) आत्मा के कर्म से प्रभावित होता है।

कठोपनिषद् ने बारम्बार ईश्वर को जान लेने के फल की

ओर संकेत किया है। वह फल है 'अमृतत्व की प्राप्ति', जैसा कि अन्य उपनिषदों ने भी कहा है। "वे अमर हो जाते हैं जो उसे जान लेते हैं[1]।" सभी उपनिषदों के अनुसार यही सामान्य उद्देश्य है और परमात्मा के ज्ञान का परिणाम है। उपनिषद्-साहित्य में अमृत और अमृतत्व शब्द बहुत ही प्रचलित हैं। किन्तु अमृतत्व से तात्पर्य क्या है? इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में अन्य कहीं तो पर्याप्त संदेह हो सकता है। कभी-कभी ऐसा भी लगेगा कि इसका अर्थ अमरत्व अर्थात् दैहिक मृत्यु से मुक्ति है। किन्तु कठोपनिषद् बिलकुल स्पष्ट कर देता है कि अमृतत्व से उसका क्या तात्पर्य है। कम से कम कठोपनिषद् इस शब्द का दैहिक मृत्यु के अर्थ में प्रयोग नहीं करता। यहाँ इसका अभिप्राय है इच्छाओं का दमन। "जब सम्पूर्ण कामनायें, जो उसके हृदय से चिपटी हुई हैं, छूट जाती हैं तब मृत अमृत हो जाता है और ब्रह्म को प्राप्त होता है[2]।" "जब हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं तब मर्त्य अमर हो जाता है, यही शिक्षा है[3]।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अमृतत्व' से कठोपनिषद् का अभिप्राय 'सम्पूर्ण कामनाओं से मुक्ति' है।

इस उपनिषद् की एक उल्लेखनीय बल्कि विलक्षण विशेषता यह है कि वह चारित्रिक गुण को प्रधानता देता है। यह उच्चतर नैतिकता की सम्पादन-व्यवस्था ही इस उपनिषद् की खास बात है। सत्य और असत्य में भेद बतलाते हुए ही यम के सम्भाषण का आरम्भ होता है। यद्यपि यम ने मृत्यु के

१. २. ३. ९। २. २. ३. १४। ३. २. ३. १५।

पश्चात् के जीवन का रहस्य बतलाना स्वीकार कर लिया था। फिर भी वह यह कहता हुआ अपना सम्भाषण शुरू करता है, "श्रेय एक वस्तु है और प्रेय अन्य वस्तु है। ये दोनों ही, भिन्न उद्देश्य रखते हुए भी, मनुष्य को बाँधते हैं। जो 'श्रेय' को स्वीकार करता है उसका कल्याण होता है। लेकिन वह जीवन के उद्देश्य से गिर जाता है जो प्रेय को चुनता है[१]।" यहाँ पर श्रेय और प्रेय (कर्तव्य और सुख) में जो विरोध है वह बहुत जबर्दस्त है। लेखक और आगे कहता जाता है कि श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं। धीर पुरुष भली भाँति उनकी परीक्षा करता है और उनका भेद समझता है। धीर पुरुष वस्तुतः प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिक महत्त्व देता है, जब कि मन्द पुरुष योग और क्षेम के कारण प्रेय को चुनता है। नैतिकता के प्रति लेखक का आग्रह हमें अन्य स्थानों पर भी मिलता है। दृढ़ विश्वास के साथ लेखक निश्चयपूर्वक यह आदेश देता है, "जिसने दुश्चरित्र का परित्याग नहीं किया है, जो शान्तचित्त नहीं है, जो अजितेन्द्रिय है, जिसका मन चंचल है, वह केवल ज्ञान के द्वारा परमात्मा को नहीं पा सकता[२]।"

किसी भी उपनिषद् की यह बात उल्लेखनीय होती। यहाँ पर ज्ञान का मूल्य घटा दिया गया है और नैतिकता को उच्च स्थान दिया गया है। इसके पूर्व का मंत्र[३] तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, बल्कि बड़ा ही विचित्र है। यह ईसाइयों के निर्वाचन के सिद्धान्त [Doctrine of Election] के सन्निकट जा पहुँचता है।

---

१. १. २. १; २. १. २. २२; ३. १. २. २१।

"यह आत्मा न तो धार्मिक ग्रन्थों के प्रवचन से प्राप्त की जा सकती है, न तीक्ष्ण मेधा से और न बहुत (वेद-शास्त्रादि के) श्रवण से। यह केवल उसी को प्राप्त हो सकती है जिसे वह स्वयं चुनती है। और यह आत्मा उसके शरीर को (अर्थात् उसे) अपना ही समझकर चुनती है[१]।"

ईसाई-सिद्धांत के समान ही यह बात बड़ी ही विलक्षण है एवं अद्वितीय है—केवल उपनिषदों में ही नहीं, वरन् वैष्णव-सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव-काल के पूर्ववर्त्ती सम्पूर्ण हिन्दू-साहित्य में। अन्त में, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कठोपनिषद् उस युग की एक महान् देन है।

---

१. १. २. २३।

अध्याय १३

तैत्तिरीयोपनिषद्

"कर्म, सजीव विश्वास और प्रेम से बढ़कर नहीं है।"

तैत्तिरीय उपनिषद् मूलतः तैत्तिरीय आरण्यक का ही एक अंग था—उसके सातवें, आठवें और नवें प्रपाठक के रूप में। उपनिषद् के रूप में, इसमें तीन अध्याय हैं जो वल्लियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन वल्लियों में फिर अनुवाक हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में, जिस रूप में वह हमको प्राप्त हुआ है, तीन अध्याय हैं। इनमें से दूसरे और तीसरे अध्यायों में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण, किन्तु एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया है, जिससे कि आरम्भिक अध्याय का बहुत थोड़ा सम्बन्ध है। भाषा की दृष्टि से पहला अध्याय शेष ग्रन्थ से बिल्कुल पृथक् है, जो कि अधिक प्राचीन है और जो स्पष्ट रूप से यह संकेत करता है कि उसकी रचना कुछ अधिक पहले हुई है। उसकी पूर्व रचना की पुष्टि वैदिक देवताओं के बारम्बार किये गये निर्देश से भी होती है जो बात कि सामान्य रूप से उपनिषदों में बहुत ही कम पाई जाती है

और जो तैत्तिरीय उपनिषद् के ही अवशिष्ट अंश में नहीं मिलती।

अध्याय का आरम्भ, ऋग्वेद के एक मंत्र के साथ, मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति और विष्णु की स्तुति से होता है[१]।

दूसरे मंत्र में, यद्यपि उपनिषदीय देवता 'ब्रह्म' का अभिवादन किया गया है, किन्तु वायु को उसके साथ सम्बद्ध कर दिया गया है, और यह घोषित किया गया है कि वायु ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है[२]।

इस अध्याय में अन्य स्थलों पर भी अनेक बार वैदिक देवताओं का मुख्य रूप से निर्देश किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह अध्याय आदि रूप में आरण्यक परिषद् (विद्यालय) का एक ग्रन्थ था। लेखक (ऋषि) बारम्बार बहुत से ब्रह्मचारियों के लिए अपनी इच्छा प्रकट करता है। "ब्रह्मचारी मेरे पास आवें, ब्रह्मचारी मेरे पास शीघ्रतापूर्वक आवें, मेरे पास वे सब ओर से आवें[३]।" "जिस प्रकार जल निम्न प्रदेशों में जाता है, जिस प्रकार मास संवत्सर (वर्ष) में जाते हैं, उसी प्रकार, हे विधाता, ब्रह्मचारी मेरे पास आवें[४]।" पार्थिव वस्तुओं के लिए बारम्बार की गई प्रार्थनाओं द्वारा भी यही संकेत मिलता है कि ग्रन्थ का यह भाग उपनिषद् की ठेठ शिक्षाओं से पृथक् है। "जनसमूह में मैं यशस्वी होऊँ,

१. ऋ० वे० १. ९०. ९; २. तै० उ० १. १; ३. तै० उ० १. ४; ४. तै० उ० १. ४।

धनवानों की अपेक्षा भी अधिक प्रशस्य होऊँ[1]। सद्भाग्य मेरे लिये वस्त्र, अन्न और पान शीघ्र और सदैव लावे। ये मुझे बहुत अधिक ऊन और गायें प्रदान करें[2]।" आरम्भिक अध्याय का, शेष ग्रन्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह क्रम-रहित और बेमेल विषयों का एक असम्बद्ध सा संग्रह है।

अगला मंत्र शिक्षा-सम्बन्धी विषयों की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा करता है। "हम ध्वनि-विज्ञान, वर्ण, स्वर, मात्रा और उदात्तादिस्वरभेद प्रभृति की व्याख्या करेंगे[3]।" लेकिन यह विषय यहीं समाप्त हो जाता है और फिर आगे कहीं भी क्रम से इनका वर्णन नहीं है। यह संभव है कि यह ग्रन्थ इन विषयों पर लिखे गये निबन्ध का एक अंग रहा हो और आगे चलकर किसी प्रकार यह पृथक् छूट गया हो और इस उपनिषद् में जोड़ दिया गया हो। इस अध्याय की समाप्ति एक सदुपदेश से होती है जो कि एक ब्रह्मचारी को दिया जाता है, जब वह अपने अध्ययन की समाप्ति पर घर लौटने की तैयारी कर रहा है। अकेला यह उपदेश ही इस ग्रन्थ को अमर कर सकता है।

एक मुख्य शिक्षा, जिसके कारण उपनिषद्-साहित्य में तैत्तिरीय उपनिषद् एक बहुत ही ऊँचा स्थान ग्रहण करता है, इस उद्घोषणा के रूप में है कि 'ब्रह्म आनन्दरूप' है। इसे दोहराया भी गया है—दूसरे और तीसरे अध्यायों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर। इस शिक्षा का महत्त्व आगे समझाया जायगा

१. तै० उ० १. ४; २. तै० उ० १. ४; ३. तै० उ० १. २

यहाँ हम अकस्मात् देखते हैं कि जिस प्रकार के विचारों का वेदों में बाहुल्य है वे यहाँ बहुत पीछे छूट गये हैं। यहाँ इन्द्र, अग्नि, वायु अथवा परम देवता में से किसी की किसी से अभिन्नता या तादात्म्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्य वैदिक देवताओं की कल्पना करने को तैत्तिरीय उपनिषद् का मानो धैर्य ही नष्ट हो चुका है। वह दृढ़तापूर्वक घोषणा करता है, "उस ब्रह्म को जानो, जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके कारण उत्पन्न हुए जीव जीवित रहते हैं, और यहाँ से जाने पर जिसमें प्रवेश करते हैं[1]।" फिर यह घोषणा भी की गई है कि ब्रह्म केवल तप और गहन चिन्तन द्वारा ही जाना जा सकता है[2]।

दूसरे और तीसरे अध्याय ही तैत्तिरीय उपनिषद् को अद्वितीय महत्त्व प्रदान कराते हैं; क्योंकि इसमें सृष्टि के संबंध में एक कल्पना को प्रकाशित किया गया है जो, उस प्राचीन युग का विचार करते हुए, बड़ी ही अद्भुत है जिसमें कि ग्रन्थ की रचना हुई थी। यहाँ पर लेखक अत्यंत बलपूर्वक यह घोषित करता है कि इस विश्व में परम सत्य 'आनन्द' है। यद्यपि यहाँ पर किसी भी वैदिक देवता को ब्रह्म के साथ मिला देने का उपक्रम नहीं है, फिर भी उसको कुछ अन्य तत्त्वों से अभिन्न बतलाने की प्रवृत्ति हमें मिलती है। ब्रह्म अथवा परम तत्त्व को क्रम से भूतपदार्थ, प्राण, चेतनता और ज्ञान कहा गया है। तैत्तिरीय के दूसरे अध्याय

---

1. तै० उ० ३. १; २. तै० उ० ३. २।

में पहले ही यह घोषणा की गई है कि 'अन्न ब्रह्म है'। यहाँ पर अन्न से, स्पष्ट रूप से अभिप्राय भूतपदार्थ से है, हालाँकि जिस रूप में पदार्थ सबसे अधिक प्रसिद्ध है और लोगों द्वारा प्रतिपादित है, उसी की यहाँ पर भी प्रधानता है। यह अन्न अथवा पदार्थ ही है जिसे पहले ब्रह्म अथवा विश्व का परम सत्य कहा गया है। और इस अभिन्नता के लिए एक बड़ा ही सत्याभासक कारण दिया गया है। इस सिद्धांत को इस प्रकार प्रकाशित किया गया था कि "वह ब्रह्म है जिससे जीवों की उत्पत्ति हुई है और जिसके कारण वे स्थिर जीवित हैं। यह सर्वप्रसिद्ध है कि प्रकृति के पदार्थों अथवा अन्न से ही जीव उत्पन्न होते हैं और अन्न से ही उत्पन्न जीव जीवित रहते हैं[१]।" अतः पदार्थ अथवा अन्न ही परम सत्य है।

विश्व की रचना के गवेषणात्मक विश्लेषण के पश्चात् तैत्तिरीय उपनिषद् इस गम्भीर तथ्य पर पहुँचता है कि इस दृश्य जगत् के पीछे परम सत्य आनन्द है अथवा आधुनिक प्रचलित भाषा में (कह सकते हैं) "परमात्मा आनन्द है।" तैत्तिरीय उपनिषद् के दूसरे और तीसरे दोनों ही अध्याय का यही वर्ण्य विषय है। यह इस ग्रन्थ को केवल उपनिषद्-साहित्य में ही नहीं, वरन् मानवता के धार्मिक विचारों के विकास के इतिहास में एक अद्वितीय महत्त्व प्रदान करता है। क्योंकि उस काल का विचार करके, जिसमें कि इसकी रचना हुई थी, कोई भी व्यक्ति उस ऋषि की सूक्ष्म दृष्टि पर चकित हुए विना नहीं रह सकता जिसने विश्व के परम सत्य

१. तै० उ० ३. २।

के रूप में आनन्द का अनुभव किया था। यह केवल अटकलबाजी न थी। प्रत्युत बात यह है लेखक जगत् की रचना के, क्रमशः प्रगतिशील विश्लेषण द्वारा ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा है। 'ब्रह्म क्या है' अथवा 'विश्व में परम सत्य क्या है' इस प्रश्न का हमें प्रत्युत्तर मिलता है "ब्रह्म अन्न अथवा पदार्थ है[1]।" वर्तमान काल के भौतिक सिद्धान्तवादियों का यह उत्तर है। और यह कोई मूर्खतापूर्ण अनुमान नहीं था। अब भी अनुभव और विचारों के क्षेत्र में शताब्दियों की प्रगति के पश्चात् भी, ऐसे लोग हैं जो 'पदार्थ' को जगत् का परम सत्य समझते हैं। किन्तु उपनिषदों के ऋषियों ने इस बनावटी दृष्टिकोण के अतिक्रमण करने में अधिक समय नहीं लिया था। उन्होंने शीघ्र ही यह अनुभव किया था कि पदार्थ के पीछे एक सूक्ष्मतर और उच्चतर सत्य है, अर्थात् प्राण। ऐसा ही तैत्तिरीय उपनिषद् ने कहा है, "इस भौतिक तत्त्व के ऊपर जीवन का तत्त्व प्राणतत्त्व है। उससे यह विश्व पूर्ण है[2]।" किन्तु ऋषियों की अन्तर्दृष्टि यहीं पर रुकी नहीं। उन्होंने इससे भी ऊँचे-ऊँचे सत्य का अनुभव किया। उपनिषद् के ऋषि क्रम से अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से आत्मज्ञान (विज्ञान) और आत्मज्ञान से आनन्द तक पहुँचे। "इस प्राणमय से अधिक गहन एक अन्य तत्त्व है, अर्थात् मन; यह विश्व उससे पूर्ण है[3]।" "मन से भी अधिक उच्च एक अन्य तत्त्व है, विज्ञान; विश्व उससे पूर्ण है[4]।" "विज्ञानमय से भी

---

१. तै० उ० १. ६; २. तै० उ० २. ४; ३. तै० उ० २. ३; ४. तै० उ० २. ३।

अधिक उच्च, और अधिक गहन सत्य है, आनन्द। विश्व उससे पूर्ण है[१]।"

अच्छा, (अब) यह आनन्द क्या है, जिसको तैत्तिरीय उपनिषद् परम सत्य कहता है? विश्व के परम सत्य के अन्तस्तल में, अन्न से आरम्भ करके आगे बढ़ते हुए, क्रमिक विश्लेषण वास्तव में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में किञ्चित् भी संदेह नहीं किया जा सकता कि आर्यों की बुद्धि विश्व के रहस्य की खोज में अधिक से अधिक गहराई की ओर बढ़ी है और उत्तरोत्तर विचार-भूमिकाएँ भी सही हैं। यह स्वाभाविक ही है कि पहले अन्न को ही परम सत्य समझा गया। किन्तु अधिक गहन चिन्तन ने प्रकाशित किया कि इस अन्न के पीछे अधिक रहस्यात्मक सत्य है—प्राण; और प्राण से भी अधिक गहन मन है; और इस मन से भी ऊपर, तैत्तिरीय एक अधिक उच्चतर सत्य को स्वीकार करता है जिसे विज्ञानमय आत्मा कहा है। सम्भवतः इससे 'अधिक समझने की शक्ति अथवा विवेक' का अभिप्राय है; यह एक ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य को जीवों (पशुओं) से पृथक् करता है। अन्त में सर्वोच्च, परम सत्य है आनन्द। इस आनन्द को परम सत्य कहा गया है, जिससे अन्य सब स्थिर है। "कौन गति कर सकता था, कौन रह सकता था यदि आनन्द स्वर्ग में न होता[२]।" भृगुवारुणि अपने पिता के पास जाता है और निवेदन करता है, "हे भगवन्, मुझे ब्रह्म की शिक्षा दीजिये।"

१. तै० उ० २. ६; २. तै० उ० २. ५।

पिता उसे उत्कट चिन्तन द्वारा ब्रह्म को जानने की सलाह देता है। भृगु पिता की सलाह का अनुसरण करता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'अन्न ब्रह्म है।' उसका पिता उसको सलाह देता है कि वह अपनी खोज में लगा रहे और क्रम से, अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ब्रह्म आनन्द है। वह उन सभी भूमिकाओं को पार करता है और ठीक पहले ही वाले निष्कर्ष पर पहुँचता है।

अब यह प्रश्न होता है, "आनन्द से क्या तात्पर्य है?" आनन्द का अर्थ 'परम सुख' (मोक्ष) किया गया है। किन्तु मेरा अपना निश्चित मत है कि 'आनन्द' का तात्पर्य उस वस्तु से था जिसे हम अंग्रेजी के शब्द Love से प्रकट करते हैं। अन्न से प्राण, और प्राण से मन और विज्ञान तक पहुँचना नितान्त स्वाभाविक है। विज्ञान से ऊँचा 'आनन्द' (Love) है। विश्व में उच्चतम तत्त्व परम सत्य 'आनन्द' है। तैत्तिरीय के ऋषि ने इस परम सत्य का अनुभव किया था 'ब्रह्म आनन्द है।' अथवा आधुनिक भाषा में परमात्मा आनन्द है। इसमें सन्देह हो सकता है कि तीसरे अध्याय का भी मूल स्रोत वही है जो दूसरे अध्याय का है अथवा उससे भिन्न है, और विचारों की समानता के कारण ही इसके साथ जोड़ दिया गया है। विचारों और वाक्यों की समानता इतनी अधिक है कि वे दो भिन्न स्रोतों से नहीं निकले होंगे। दूसरी बात यह भी है कि इस प्रकार के समान विचार बिना किसी अन्य विचार को लिए हुए, और बिना किसी परिवर्तन के क्यों दुहराये जाते? यहाँ, वरुण का पुत्र, भृगु अपने पिता के

पास गया और ब्रह्म के विषय में शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की। वरुण ने वही पूर्व परिचित मंत्र कहा, जो उपनिषदों की भाषा में परमात्मा की सर्वप्रसिद्ध परिभाषा बन गया है। "जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न जीव जीवित रहते हैं और यहाँ से जाने के पश्चात् जिसमें प्रवेश करते हैं, वह ब्रह्म है[१]।" वही ब्रह्म है। वह केवल गंभीर चिन्तन के द्वारा जाना जा सकता है। अपने पिता की सलाह के अनुसार, भृगु ने चिन्तन किया, और उसके द्वारा इस सत्य का अनुभव किया कि "ब्रह्म अन्न है। अन्न से ये सब वस्तुयें उत्पन्न हुई हैं, अन्न से ये सब उत्पन्न जीव जीवित रहते हैं और यहाँ से जाकर अन्न में ही मिल जाते हैं।" भृगु पुनः अपने पिता के पास गया और अपने चिन्तन का परिणाम बतलाया। पिता ने फिर खोज करने और अधिक उग्र चिन्तन करने की सलाह दी। भृगु ने पुनः चिन्तन किया और इस गम्भीरतर सत्य का अनुभव किया कि परमात्मा प्राण है[२]। भृगु, क्रम से गम्भीर से गम्भीर सत्य की ओर—प्राण से मन, मन से विज्ञान और विज्ञान से परम सत्य की ओर; याने 'परमात्मा आनन्द है'—जैसा कि दूसरे अध्याय में कहा गया है—बढ़ते जाते हैं। भृगु और वरुण के नामों के आधार पर ही यह दिव्य-ज्ञान 'भार्गवी-वारुणी-विद्या' के नाम से विख्यात है जिसके विषय में यह घोषित किया गया है कि यह उच्चतम लोक में स्थित है। सचमुच ही यह विद्या 'दिव्य-ज्ञान' कही जाने योग्य है, विशेषकर इस अनुरोध से जिस रूप में कि वह

---

१. तै० उ० ३. १; २. तै० उ० ३. २।

मनुष्य को दी गयी है। दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्रों में आश्चर्य-पूर्ण प्रगतिशील सारी आगामी शताब्दियाँ भी इस योग्य नहीं हो सकीं कि उपनिषदों के ऋषियों की इस खोज का कि 'ब्रह्म आनन्द है' अतिक्रमण करें। परमात्मा आनन्द है। आनन्द से ही सब जीव उत्पन्न हुए हैं और आनन्द से ही सब उत्पन्न जीव जीवित हैं। विश्व के अन्तस्तल में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि होने के कारण तैत्तिरीय उपनिषद् को उपनिषद्-साहित्य में, विचारों की दौड़ में, सबसे आगे पहुँचनेवाला माना जा सकता है।

———

अध्याय १४

मुण्डकोपनिषद्

"जान ले तू सत्य को,
जो मुक्त कर देगा तुझे।"

उपनिषद्-साहित्य के समुज्ज्वल रत्नों में से, मुण्डकोपनिषद् एक रत्न है। इसका कारण यह है कि वह आद्यन्त समान रूप से उच्च कोटि का है और निम्न श्रेणी के विषयों से लगभग रहित है। अथर्ववेद का यह एक उपनिषद् है। इसमें प्रधान तीन खण्ड हैं जिन्हें मुण्डक कहा गया है। इनमें हरएक में दो खण्ड हैं। इस प्रकार पूरा ग्रन्थ ६ अध्यायों में विभक्त है। किन्तु इस विभाजन का आधार—इसके विषयों की दृष्टि से—कोई युक्ति-युक्त निर्धारित प्रणाली नहीं है।

प्रारंभ के कतिपय मंत्रों का प्रयोजन ग्रन्थ की उत्पत्ति बताना है। वस्तुतः इसका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। कहा यह जाता है कि ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को इसकी शिक्षा दी। अथर्वा ने अंगिरा को इसे पढ़ाया। अंगिरा ने भरद्वाजकुलोत्पन्न सत्यबाहु को, और भरद्वाज के वंशजों ने

अंगिरा के कुलवालों को 'पर-अवर' परम्परा से पढ़ाया। इसका प्राथमिक शिक्षक अंगिरा नाम का एक ऋषि था, जिसने शौनक नाम के एक बड़े गृहस्थ को इसे पढ़ाया जो उसके पास आया था और पूछा था, "भगवन्! वह क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ विज्ञात हो जाता है?" यह उल्लेखनीय है कि यह प्रश्न लगभग उससे अभिन्न है जिसे उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से छान्दोग्य उपनिषद् में पूछा है। इसके उत्तर में ऋषि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में एक महान् अन्तर बतलाता है, जिन्हें यथाक्रम ज्ञान का अनुत्तम और उत्तम (अपर और पर) रूप कहा गया है। चारों वेद और षडङ्ग विज्ञान (अपरा-विद्या) अनुत्तम हैं। किन्तु उपनिषद् (परा-विद्या) उत्तम ज्ञान हैं, जिनके द्वारा वह नित्य (ब्रह्म) जाना जाता है।

दूसरे अध्याय में, वैदिक कर्मकाण्ड के सम्पादन का आदेश बहुत ही स्पष्ट रूप से दिया गया है। "दृढ़ संकल्पपूर्वक निरन्तर उन पर आचरण करो; अपने सुकृत के फल प्राप्त करने का यह साधन (मार्ग) है[1]।" किन्तु यह तुरन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि वास्तव में अनुत्तम विद्या के समान इनकी निन्दा कर रहा है। "अनेक प्रकार से, अविद्या में रहते हुए मूर्खजन यह समझकर कि हम कृतार्थ हैं अभिमान करते हैं। जो कर्मरत हैं वे राग या आसक्ति के कारण सत्य को नहीं जानते। जब उनके सुकृत के फल क्षीण हो जाते हैं तब वे पुनः (इस लोक में) लौट आते हैं और दुःखार्त्त होते हैं।

1. मु० उ० १. २. १।

इष्टापूर्त को (यागादि श्रौत कर्मों और वापीकूपतड़ागादि स्मार्त कर्मों को) श्रेष्ठ मानते हुए मूर्ख, अन्य श्रेय को नहीं जानते। सुकृत द्वारा प्राप्त स्वर्ग में सुख-भोग करके वे इस अथवा इससे भी हीन लोक में आते हैं। शान्तचित्त विद्वान् लोग, जो अरण्य में भिक्षा पर निर्वाह करते हैं और तप एवं श्रद्धा का आचरण करते हैं, पापरहित हो जाते हैं और सूर्य-द्वार से (वहाँ) जाते हैं, जहाँ अव्ययात्मा, अमृतपुरुष निवास करता है[1]।"

मुण्डक उपनिषद् में परम सत्य का संकेत करनेवाले मन्त्र अधिक नहीं हैं। किन्तु इस उपनिषद् की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें विश्व की सृष्टि के स्वरूप और सृष्ट विश्व और सृष्टिकर्ता के सम्बन्ध का, अनेक उदाहरणों द्वारा, विशेष रूप से वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार सृष्टि की तुलना मकड़ी के जाला बुनने से, पृथ्वी से पौधों की उत्पत्ति से और मनुष्य के शरीर में बालों की उत्पत्ति से की गई है।

"जिस प्रकार मकड़ी (जाले को) बनाती है और फिर उसे निगल जाती है; जैसे पृथिवी पर पौधे उगते हैं, जैसे एक जीवित पुरुष के शरीर में बाल उगते हैं, वैसे ही (उस) अक्षर (ब्रह्म) से इस विश्व में प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है[2]।"

सृष्टि की तुलना सुदीप्त अग्नि से निकलती हुई चिनगारियों से भी की गई है। "जिस प्रकार खूब सुलगती हुई आग से,

१. मु० उ० १. २. ६, १०, ११; २. मु० उ० १. १. ७।

उसी के समान रूपवाली सहस्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, हे सौम्य, ठीक उसी प्रकार (सृष्टिकाल में) अक्षर (ब्रह्म से) नाना भाव उत्पन्न होते हैं और (प्रलयकाल में) उसी में लीन हो जाते हैं[1] ।" ये उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि सृष्टि, केवल उस सबका बाहर (प्रकाश में) आना है जो कुछ कि ब्रह्म में अव्यक्त रूप से विद्यमान है। परम सत्य (ब्रह्म) से विश्व की सृष्टि के विषय में, मुण्डक उपनिषद् में गंभीर विचारों से पूर्ण और भाषा की दृष्टि से सौष्ठवयुक्त बहुत से मन्त्र हैं।

मुण्डक उपनिषद् की दूसरी प्रमुख विशेषता परमात्मा को जानने की विधि का निर्देश है। इस उपनिषद् में इस विषय पर अनेक मन्त्र हैं। सामान्य रूप से इस बात की घोषणा की गई है कि ब्रह्म-ज्ञान बलहीनों[2] के लिए नहीं है। मुण्डक उपनिषद् इसको अत्यन्त स्पष्ट कर देता है कि ब्रह्म को जानने के लिए एक दीर्घ (कालीन) और कठिन प्रयास की आवश्यकता है। इसकी व्याख्या करते हुए वह स्पष्ट रूप से कहता है कि परमात्मा को चक्षु से नहीं देखा जा सकता और न अन्य किसी इन्द्रिय से ही उसे ग्रहण किया जा सकता है, न तो तप से और न (अग्निहोत्रादि) शुभ कर्मों से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

"उसे चक्षु से, वाणी से अथवा अन्य इन्द्रियों से नहीं ग्रहण किया जा सकता। तप और कर्म से भी उसे नहीं प्राप्त किया जा सकता है[3] ।"

---

१. २. १. १; २. ३. २. ४; ३. ३. १. ८।

फिर आगे कहा गया है कि केवल (धर्मग्रन्थों के) प्रवचन से, (वेदादि) शास्त्रों के अध्ययन से और मेधा से ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। मुण्डक उपनिषद् ब्रह्मज्ञान की विधि की तुलना, एक दूरस्थ वस्तु को बाण से वेधने से करता है। ब्रह्म लक्ष्य है, आत्मा बाण है और 'ओ३म्' अथवा प्रणव धनुष है, और जिस प्रकार एक कुशल धनुर्धारी अवधान-पूर्वक मनोयोग से लक्ष्य को वेधता है, उसी प्रकार जिज्ञासु सावधान मनोयोग द्वारा ब्रह्म को जान सकता है। विध्यात्मक पक्ष में यह कहा गया है कि परमात्मा को सत्य के अभ्यास से, पूर्ण ज्ञान से, तपस्या और ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

"यह (परम) आत्मा सत्य द्वारा, तप द्वारा, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य द्वारा सदैव लभ्य है[1]।"

यह एक बहुत यथार्थ और गंभीर उक्ति है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए बताई गई चार शर्तों में से प्रत्येक शर्त, विचारों के एक संसार की ओर संकेत करती है, किन्तु हम प्रश्न के इस रूप पर अधिक देर नहीं रुक सकते, यद्यपि यह चित्ताकर्षक और मोददायी है। इस मन्त्र में तथा एक दूसरे मन्त्र में—जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं और जिसमें यह घोषणा की गई थी कि परमात्मा को तप द्वारा[2] नहीं प्राप्त किया जा सकता—एक विरोध सा आभासित हो रहा है, उसे दूर करने के लिए हम यहाँ दो शब्द कह सकते हैं। यहाँ पर दूसरी

---

१. ३. १. ५; २. ३. २. ८।

और, परमात्मा को जानने के लिए जो शर्तें हैं, तप उनमें से एक है। और विरोध केवल ऊपरी है। लेखक का जो अभिप्राय है वह यह है कि परमात्मा केवल तप द्वारा नहीं जाना जा सकता। किन्तु सच्चा आत्म-संयम और कठिन चिन्तन, निस्सन्देह ब्रह्मज्ञान में अनिवार्य सहायक हैं। एक दूसरे मन्त्र में, ऋषि ने इससे भी अधिक गम्भीर सत्य को खोज निकाला है। वह यह है कि जब अन्तरात्मा ज्ञान द्वारा विशुद्ध हो गई हो, तब ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है।

"जब एक (पुरुष) विशुद्ध ज्ञान द्वारा परिपूत हो गया है, वह (एकाग्र मन से) चिन्तन द्वारा निष्कल ब्रह्म को देखता है[1]।"

यह अपनी अन्तर्दृष्टि और ईसा के कथन से घनिष्ठ समानता के कारण (विशेष) उल्लेखनीय है—"शुद्ध हृदयवाले सुखी हैं, क्योंकि वे ईश्वर को देखेंगे[2]।" ईसा मसीह और मुण्डक उपनिषद् का लेखक—दोनों ही परमात्मा के साक्षात्कार के परमानन्द को शुद्ध हृदयवालों के लिए सुरक्षित करते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इन दोनों ही धर्म-ग्रन्थों में 'देखना' शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि 'जानना' शब्द का। ईसा कहते हैं, 'वे ईश्वर को देखेंगे'। मुण्डक उपनिषद् भी उसी प्रकार 'पश्यते' शब्द का प्रयोग करता है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए ज्ञान के महत्त्व पर भी उपनिषद् जोर देता है। एक पिछले मन्त्र में, जिसका संकेत किया जा चुका है, हमने देखा है कि सम्यक् ज्ञान को, ब्रह्म को

---

१. ३. १. ८; २. मैथ्यू० अध्याय ५. ८।

जानने की शर्तों में से एक शर्त बतलाया गया है। यहाँ ज्ञान को हृदय की शुद्धता का एक साधन बतलाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुण्डक उपनिषद् के अनुसार, हृदय की शुद्धता परमात्मा को देखने की अन्तिम और अनिवार्य दशा है, और ब्रह्मचर्य, तप, सत्य का अभ्यास एवं सम्यक् ज्ञान, हृदय की शुद्धता को प्राप्त करने के साधन हैं।

ब्रह्मप्राप्ति के सम्बन्ध में मुण्डक उपनिषद् एक अन्य उल्लेखनीय बात कहता है। तीसरे मुण्डक का दूसरा खण्ड, यह कहने के पश्चात् कि परमात्मा को प्रवचन और मेधा द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, यह घोषित करता है कि उसे केवल वही पा सकता है जिसे वह स्वयं चुनता है। वह आत्मा उसे अपने ही शरीर अथवा आत्मा के समान चुनता है।

"वह केवल उसी के लिए लभ्य है, जिसको वह चुनता है। यह आत्मा उसको अपना स्वरूप (तनु) प्रकाशित करता है[1]।"

यह एक बड़ी ही विचित्र बात है कि यह कालविन के चुनाव के सिद्धान्त (Calvinistic doctrine of election) के अनुरूप है। दोनों में से किसी भी ओर से भाव को ले लेने का सुझाव नहीं रखा जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि दो आचार्यों ने—जो समय और देश की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत दूर थे—स्वतन्त्रतापूर्वक एक ही आध्यात्मिक तत्त्व पर गंभीर विचार किया है। परमात्मा के

---

1. ३. २. ८।

ज्ञान और उसके साक्षात्कार के विषय में मुण्डक के विचार बहुत स्पष्ट हैं। इस प्रश्न पर इसकी शिक्षा महत्त्वपूर्ण है। इस उपनिषद् का यह कथन कि 'परमात्मा उसको चुनता है जिसे वह चाहता है' भारत के धार्मिक विकास के इतिहास में भक्ति-आन्दोलन के 'अनुकम्पा' के सिद्धान्त का बीज है।

'परमात्मा को जान लेने का परिणाम क्या होता है' इस पर भी मुण्डक ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। ब्रह्म-ज्ञान के अन्तिम परिणाम के रूप में कहा गया है कि व्यक्ति 'अमृत'[1] हो जाता है। 'अमृत हो जाने से' क्या अभिप्राय है? सौभाग्य-वश इसकी व्याख्या ऋषि ने उसी मन्त्र में कर दी है। हृदय की (अविद्यारूपी) ग्रन्थियों से वह विमुक्त हो जाता है, शोक और पाप से मुक्त हो जाता है। फिर कहा गया है, "जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म (ही) हो जाता है[2]।" यह भाव मुण्डक उपनिषद् के लिए कोई नया नहीं है; यह विचार अन्य उपनिषदों में भी अनेक स्थलों पर मिलता है। ब्रह्म के साथ ज्ञाता के तादात्म्य के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या निम्नलिखित मन्त्र में की गई जान पड़ती है—

"जिस प्रकार समुद्र की ओर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़कर उसके ही नाम और रूप को ग्रहण करती हुई उसमें प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म को जानता हुआ (विद्वान्) अपने नाम और रूप से विमुक्त होकर उस दिव्य पुरुष में प्रवेश करता है जो पर से भी पर है[3]।"

---

१. ३.२.६; २. ३.२.६; ३. ३.२.८।

कहने का तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति, ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात्, अपने पृथक् अस्तित्व को खो देता है और ब्रह्म में प्रलीन हो जाता है। यह वस्तुतः सर्वविदित 'अद्वैत-सिद्धान्त' है, जिसे आगे चलकर शंकर ने पूर्णतया विकसित किया। यथार्थ में मुण्डक उपनिषद्, उपनिषद्-साहित्य के सबसे महत्त्वपूर्ण अंगों में से एक है, क्योंकि अद्वैत-सम्प्रदाय के बहुत से महत्त्वपूर्ण सिद्धातों की इसमें स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है।

मुण्डक उपनिषद् के इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व, यह अच्छा होगा कि इस उपनिषद् के नामकरण पर और इसमें निहित दर्शन के सार पर विचार कर लिया जाय।

यह निश्चित नहीं है कि 'मुण्डक' शब्द का सम्बन्ध परम्परागत बौद्ध भिक्षुक से है, जो ब्राह्मणों की प्रचलित प्रथा के विरुद्ध अपने शिर को बिल्कुल मुड़वा देते थे, जब कि ब्राह्मण अपने बालों को बड़ी सावधानी से कटवाते थे और उन्हें एक विशेष ढंग से रखते (काढ़ते) थे अथवा यह भी सन्देहास्पद है कि यह मुण्ड् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'बाल मूड़ना'। हाँ, यह अवश्य है कि प्राचीन भाष्य-कार इसे 'मुण्डक उपनिषद्' कहते हैं, सम्भवतः इस कारण से (कहते हों) कि इस उपनिषद् की शिक्षायें अस्तुरे के सदृश ही, बुद्धि की भ्रान्तियों को काटती हैं। इसके नाम-करण के सम्बन्ध में अन्तिम निष्कर्ष चाहे जो भी हो, किन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उपनिषद्-साहित्य

में सर्वप्रथम यहाँ पर पराविद्या—ब्रह्मविद्या—की शिक्षा को ही मुख्य उद्देश्य बतलाया गया है, जो (ब्रह्मज्ञान) न तो यज्ञादि से और न पूजा-पाठ से प्राप्त किया जा सकता है।

मुण्डकोपनिषद् का दर्शन दो पक्षियोंवाले[1] ऋग्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र के चारों ओर केन्द्रित है।

"सुन्दर पंखों से युक्त दो पक्षियों ने मित्रता के बन्धन से बँधे हुए, एक ही आश्रयदाता वृक्ष में, आश्रय पा लिया है। उस मिथुन में से एक पीपल के वृक्ष के मधुर फल खाता है और दूसरा, न खाता हुआ, केवल देखता है।"

(ग्रिफिथ का अनुवाद)

इसी के जोड़ का विचार मुण्डकोपनिषद् के तीसरे मुण्डक के प्रथम खण्ड में मिलता है।

"दो पक्षी, जो अभिन्नमित्र हैं, समान वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा, बिना खाता हुआ, देखता रहता है[2]।"

उपनिषद् के ऋषि ने जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् करने-वाले भेदों को महत्त्व दिया है। परमात्मा जीवात्मा से यद्यपि इस प्रकार जुड़ा-हुआ है कि उसे पृथक् नहीं किया जा सकता। किन्तु उसके (जीवात्मा के) समान वह फल को नहीं खाता, वरन् निष्क्रिय रूप से द्रष्टामात्र रहता है और इसका परिणाम यह होता है कि फलभोक्ता अपने कर्म से बँधा

---

१. ऋ० वे० १. १६४. २०। २. श्वेता० उ० (४. ६); कठ. उ० (३. १)।

रहता है और उसे सभी वेदनाओं को सहन करते हुए जीवन की चक्की में पिसना पड़ता है । इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् हमको उपनिषद् के विचारों के तर्कसम्मत निष्कर्ष पर पहुँचाता है, जो कि अन्त में आत्म-सिद्धान्त (आत्म-वाद) का अग्रदूत बना और जिसका कि पूर्ण विकास भगवद्गीता में हुआ ।

अध्याय १५

केनोपनिषद्

"हमारी आत्मा प्रकाश की ओर बढ़े, हमारे नेत्र प्रकाश पर रहें और हम नीचे (पतन की ओर) न देखें ।"

उपनिषद् की अत्युत्तम शैलीवाला एक बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ केनोपनिषद् है । इसमें उद्देश्य की एकता है, यद्यपि सम्भवतः इसमें ग्रन्थकारिता की दृष्टि से ऐक्य नहीं है । अन्तिम इक्कीस मन्त्रों (१४-३४ तक) की शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी रचना कुछ अधिक पहले की है और जिन्हें प्रथम तेरह मन्त्रों के रचयिता ने अपनी रचना में मिला लिया है, क्योंकि वे मंत्र बड़े ही अनोखे ढंग से एक दृष्टान्त के द्वारा उसके दृष्टिकोणों को प्रमाणित करते हैं । सम्पूर्ण उपनिषद् ब्रह्म-विषयक उपनिषद् की धारणा का आदर्शभूत उदाहरण है और विशेष रूप से पुरुष की ज्ञानशक्ति से ब्रह्म के सम्बन्ध का । विषय का प्रवेश इस जिज्ञासा से किया गया है कि मन, प्राण और इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में जाने और अपना-अपना कार्य संपादन करने की प्रेरक शक्ति कौन प्रदान करता है ।

"किसकी प्रेरणा से मन अपने विषय की ओर जाता है ?

किसके नेतृत्व में प्राण, सर्वेन्द्रिय प्रमुख अन्तरिन्द्रिय, अपना कार्य करते हैं ? किसकी प्रेरणा से मनुष्य इन शब्दों का उच्चारण करते हैं और कौन देवता नेत्रों और कानों को उनके विषय में नियुक्त करता है[१] ?"

यह यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के गवेषणात्मक अन्वेषण को बहिर्जगत् के कौतुक नहीं उत्तेजित करते; प्रश्न यह नहीं है कि वह कौन है जो सूर्य, चन्द्रमा और तारों को अनिर्धारित मार्गों में घुमाता है और न यह ही है कि वह कौन है जिसने पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न किया है। यह समस्या मनुष्य के मस्तिष्क का रहस्य है जो ऋषि के विस्मय को और भी अधिक गम्भीरतापूर्वक उत्तेजित करता है। मन, प्राण, वाणी, नेत्र और कान अपना कार्य कैसे करते हैं? और (इसका) उत्तर है कि एक (पुरुष) है जो "कानों का कान है, मन का मन है, प्राण का प्राण है और चक्षु का चक्षु है; और जो इन्द्रियों, प्राण और मन को सुरक्षित रखता है और उन्हें व्यवस्थित करता है[२] ।" इसके आगे सत्य के स्वरूप का निर्देश करते हुए अनेक मन्त्र आते हैं जिनका दृष्टिकोण गंभीर है और जिनकी अभिव्यंजना बड़े ही उत्कृष्ट शब्दों द्वारा की गयी है।

"चक्षु उस तक नहीं जाते, न वाणी और न मन ही पहुँच पाता है; हम नहीं जानते कि उसके पास कैसे पहुँचें और न हम उसे जानते ही हैं[३] ।"

---

१. के० उ० १. १; २. के० उ० १. २।

३. १. ३ (इसका शुद्ध हवाला १. ३ है)।

"वह विदित से अन्य है और अविदित से भी परे है। ऐसा हमने अपने पूवजों (पूर्वाचार्यों) से सुना है जिन्होंने उसके विषय में व्याख्या की है[१]।"

"जो मन के द्वारा नहीं जाना जा सकता तथा जिसके संबंध में यह कहा जाता है कि वह मन को जानता है, वही ब्रह्म है। उसे जानो, न कि वह ब्रह्म है जिसकी तुम उपासना करते हो[२]।"

"जिसे मनुष्य अपनी घ्राणेन्द्रिय से नहीं सूँघ पाते, और जिसके कारण घ्राणशक्ति अपना कार्य करती है—उसे ही केवल ब्रह्म जानो। वह यह नहीं है, जिसकी कि पुरुष उपासना करते हैं[३]।"

फिर भी यह ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि न तो परमात्मा के विषय में कुछ जाना जा सकता है और न कुछ जाना गया है। केनोपनिषद् के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसने आधुनिक निराशावादियों की निराशा की भावात्मक पुकार का बहुत पहले ही उत्तर दे दिया है। वह पुरुष के मस्तिष्क की सीमितता को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है। अन्य कहीं भी उस असीम के ऐश्वर्य का इतनी स्पष्टता से वर्णन नहीं किया गया है। "चक्षु उस तक नहीं पहुँचती, न वाणी (और) न मन (ही)।"

फिर भी हम बिलकुल अन्धकार में नहीं रह जाते हैं। "मैं नहीं समझता कि मैं ब्रह्म को भली भाँति जानता हूँ। मैं

---

१. १. ३। २. १. ५ (इसका शुद्ध ब्याख्या १. ५ है) : ३. १. ८।

न तो उसे नहीं जानता हूँ, और न जानता ही हूँ। जो कोई हम में से (इस) प्रस्तावना को समझता है कि 'न तो ऐसा ही है कि मैं उसे नहीं जानता हूँ और न (ऐसा ही है कि) (मैं) उसे जानता हूँ', वह उसे जानता है[१]।"

"जो समझता है कि वह ब्रह्म को जानता है वह (वस्तुतः) उसे नहीं जानता, और जो समझता है कि वह ब्रह्म को नहीं जानता, वह उसे जानता है। जो सोचते हैं कि वे ब्रह्म को जानते हैं उनके लिए ब्रह्म अविज्ञात है और न जाननेवालों के लिए वह विज्ञात है[२]।"

केनोपनिषद् की प्रधान शिक्षा यह है कि सब शक्ति ब्रह्म की ही है, और वह ब्रह्म की ही शक्ति है जिसके द्वारा अन्य (सब) जीवित रहते हैं, गतिशील हैं अथवा अन्य कुछ भी कार्य करते हैं। इस सत्य को उदाहरण देकर समझाने के लिए इस ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त है, जिसकी कल्पना सम्भवतः स्वतन्त्र रूप से और पहले की है। यह कहा जाता है कि असुरों के साथ संग्राम में, ब्रह्म की शक्ति द्वारा देवता विजयी हुए। किन्तु उन्होंने उसका श्रेय अपने को ही दिया। उनके मिथ्याभिमान को जानता हुआ ब्रह्म उनके सामने प्रकट हुआ, किन्तु देवता न समझ सके कि यह पूजनीय उपस्थित पुरुष कौन है। पहले अग्निदेवता उसके पास पहुँचे। तब ब्रह्म ने उनसे पूछा कि वह कौन हैं। अग्नि ने उत्तर दिया कि वह सुप्रसिद्ध अग्नि हैं। ब्रह्म ने तब पूछा कि उनमें क्या शक्ति है। अग्नि ने उत्तर दिया कि

---

१. २. २; २. २. ३।

जो कुछ भी विद्यमान है उस सबको वे जला देने में समर्थ हैं। तब ब्रह्म ने उनके सामने एक तिनका रक्खा और कहा कि उसे जला दें। अग्निदेव ने यथाशक्ति चेष्टा की, किन्तु उसे जला न सके। अतः चूर्णाभिमान वे देवताओं के पास लौटे और उनसे कहा कि वह नहीं समझ सके कि वह उपस्थित पुरुष कौन है। तब देवताओं ने वायु को, उसी कार्य के लिए भेजा और उनका भी वही हाल हुआ। अन्त में देवराज इन्द्र को इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया, किन्तु ज्यों ही वह पूजनीय उपस्थित श्लाघ्य पुरुष के पास पहुँचे, त्यों ही वह लुप्त हो गया। और तब अतिश्रेष्ठ दीप्तिवाली एक देवी आकाश में प्रकट हुई, जिसने पूछने पर इन्द्र को बतलाया कि वह उपस्थित दिव्य-पुरुष ब्रह्म था जिसके कि बल से उन्हें विजय प्राप्त हुई है।

उपनिषद् यह निरूपण करता हुआ समाप्त होता है कि जो कोई इस सत्य को जानता है, वह सब पापों से छूटकर परमोच्च स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है।

अध्याय १६

प्रश्नोपनिषद्

"ओ३म् के द्वारा ही इन सब वस्तुओं की सृष्टि हुई है। उसका शरीर आनन्दस्वरूप है। वह (स्वयं) रूपहीन है, निर्गुण है। उसके साथ अपने संयोग की चेष्टा कर।"

—कबीर

केनोपनिषद् के समान ही कुछ मौलिक प्रश्नों की विवेचना करनेवाला दूसरा उपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् है। इसका नाम ही, जिसका अर्थ प्रश्न अथवा जिज्ञासा है, इसके विषय के स्वरूप का निर्देश करता है। ग्रन्थ में ६ अध्याय हैं जिनमें ६ भिन्न-भिन्न प्रश्न उठाये गये हैं। लेकिन ये प्रश्न केनोपनिषद् के प्रश्नों के समान गम्भीर और गवेषणात्मक नहीं हैं और न उनके उत्तर ही उतना गम्भीर प्रकाश देते हैं। ग्रन्थारम्भ सत्य की खोज करनेवाले ६ पुरुषों के उल्लेख से होता है जो पिप्पलाद ऋषि के पास कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर गये थे और उन प्रश्नों के आधार पर कुछ उपदेश ग्रहण करना चाहते थे। ऋषि ने उन्हें उपदेश देना इस शर्त पर

स्वीकार कर लिया था कि उन-उन विषयों का उन्हें कुछ ज्ञान होना अपेक्षित है। उनमें से एक—कात्य के पुत्र कबन्धि—ने पूछा, "प्रजा कहाँ से उत्पन्न होती है?" ऋषि ने उत्तर दिया, "प्रजा की कामना से प्रजापति ने तपस्या की। तप से उसने प्राण और रयि को उत्पन्न किया। इस मिथुन से सब प्रजा उत्पन्न हुई है।" फिर उपनिषद् स्पष्ट करता है कि प्रजापति कौन है तथा प्राण और रयि कौन हैं? प्रजापति को संवत्सर, प्राण को सूर्य और रयि को चन्द्रमा कहा गया है। और आगे चलकर मास को प्रजापति, उसके शुक्लपक्ष को प्राण और कृष्णपक्ष को रयि बतलाया गया है। और आगे दिन और रात को प्राण और रयि कहा गया है। इस प्रकार जो प्रश्न किया गया है वह महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उसका उत्तर न तो उपयुक्त है और न गम्भीर है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि यह उत्तर तैत्तिरीय (२.६) पर आधारित है जिसका सम्बन्ध सृष्टि-रचना के विषय से है। तैत्तिरीय में भी सृष्टिकार्य के पूर्व तप किया गया है। किन्तु तैत्तिरीय में तो वह स्वयं ब्रह्म है, जिसने अनेक होने की इच्छा से तप किया और तप करके इस सबको, जो कुछ विद्यमान है, उत्पन्न किया। "उसने कामना की—मैं बहुत (अनेक) हो जाऊँ; मैं जन्म लूँ। उसने तप किया और तप करके इस सबको उत्पन्न किया, जो कुछ कि है[१]।" (किन्तु यहाँ) प्रश्नोपनिषद् में वह प्रजापति है, जो प्रजा की कामना से, प्राण और रयि को उत्पन्न करता है और न कि

---

१. तैत्तिरीय उ० २, ६।

सीधे प्रजा को। प्राण और रयि उपनिषद् के रचयिता न होकर ब्राह्मणों और पुराणों के रचयिता हैं। उपनिषदों की शैली की अपेक्षा इसकी शैली पुराणों से मिलती-जुलती है। जो कुछ भी हो, पिप्पलाद का उत्तर कुछ अधिक महत्त्व का नहीं है।

दूसरा अध्याय प्राण की प्रधानता घोषित करता है। किन्तु दूसरे प्रश्न के उत्तर से इसका क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट नहीं है। भृगु के पुत्र वैदर्भि—दूसरे अन्वेषक—का किया गया प्रश्न है, "जो उत्पन्न किया गया है उसे कितने देवता धारण करते हैं, कितने इसे प्रकाशित करते हैं और उनमें वरिष्ठ कौन है[१] ?" किन्तु जो कुछ उसके बाद कहा गया है उससे ऐसा लगेगा कि प्रश्न केवल यह था कि कौन इस शरीर को धारण करता है अथवा कौन शक्तियाँ शरीर को धारण करती हैं? पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया—वह हैं आकाश, वायु, अग्नि, आप्, पृथिवी, वाक्, मन, चक्षु और कान। प्रश्न के दूसरे भाग के उत्तर में, वह कहता है कि प्राण इनमें से वरिष्ठ है, यद्यपि शरीर को धारण करनेवाली शक्तियों में प्राण का उल्लेख नहीं किया गया है। सम्पूर्ण अध्याय प्राण के गुणकीर्तन में ही समाप्त हो गया है। प्राण की प्रधानता को प्रत्यक्ष प्रदर्शन द्वारा प्रमाणित किया गया है। जब प्राण बाहर निकल जाता है, अन्य सभी आवश्यक शक्तियाँ अपने बल को खो देती हैं। यही उदाहरण अथवा दृष्टान्त छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ५ में मिलता है।

---

१. प्रश्नोपनिषद् २. १।

तीसरा अध्याय प्राण के विषय में (अपनी) छानबीन जारी रखता है। तीसरे अन्वेषक, अश्वल के पुत्र कौशल्य, ने प्रश्न किया, "कहाँ से यह प्राण आता है ? इस शरीर के साथ वह कैसे आता है ? वह बाहर कैसे जाता है ? और बाह्य पदार्थ एवं अध्यात्म को वह कैसे धारण करता है ?" पिप्पलाद ऋषि प्रश्नों की क्लिष्टता स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्वेषक की उत्सुकता पर विचारकर वह इस प्रकार उत्तर देने की कृपा करते हैं, "जिस प्रकार एक सम्राट्, इन ग्रामों अथवा उन ग्रामों पर शासन करने के लिए अपने अधिकारियों को आज्ञा देता है 'इन ग्रामों पर शासन करो', उसी प्रकार प्राण अन्य प्राणों को पृथक्-पृथक् अपना कार्य करने के लिए नियुक्त करता है[1] ।" इसके पश्चात् प्राणों का पाँच प्राणों में कल्पनापूर्ण विभाजन किया गया है और शरीर के विभिन्न भागों में तार्किक शैली में उनका वास बतलाया गया है।

केवल एक ही वस्तु जिसे हम प्रश्नोपनिषद् की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन कह सकते हैं, वह है कि प्राण आत्मा से उत्पन्न हुआ है। "यह प्राण आत्मा से उत्पन्न हुआ है[2] ।" आत्मा से प्राण जिस विधि से पैदा हुआ है उसे यथार्थ रूप से घोषित करते हुए यह कहा गया है, "जिस प्रकार एक छाया पुरुष पर डाली जाती है उसी प्रकार यह (प्राण) उस (ब्रह्म) पर फैला हुआ है। मन के संकल्प से इस शरीर में वह आता है[3] ।" इसका अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं है। कहा

१. प्रश्न० ३. ४ ; २. प्रश्न० ३. ३ ; ३. प्रश्न० ३. ३ ।

गया है कि प्राण 'मनोकृतेन' शरीर में आता है। शंकर इसको 'मन का संकल्प' (मनःसंकल्प) कहते हैं। मैक्समूलर इसका अनुवाद करते हैं, "by the work of the mind" (मन के कार्य से) और उस पर यह टिप्पणी देते हैं, "the good or evil deeds which are the work of the mind" (शुभ अथवा अशुभ कर्म, जो मन का कार्य है।) मैक्समूलर का अनुवाद इस सिद्धान्त से बिल्कुल मेल खाता है कि आत्मा पूर्व जीवन के कर्मों के अनुसार शरीर ग्रहण करता है।

चतुर्थ अध्याय सुषुप्त और जागृत अवस्था के रहस्य का वर्णन करता है। चतुर्थ अन्वेषक, सौर्य का पुत्र, गार्ग्य प्रश्न करता है, "भगवन्, वे कौन हैं जो इस मनुष्य में सोते हैं, और वे क्या हैं जो उसमें जागते हैं? वह शक्ति (देव) क्या है जो स्वप्न देखती है? सुख किसको है? यह सब किस पर आश्रित है?" पिप्पलाद ऋषि के उत्तर का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि सोते समय सब इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो जाती हैं और मन में विश्राम करती हैं। इसीलिए सोता हुआ मनुष्य नहीं देखता है और न सुनता है, इत्यादि। जो पुरुष दर्शन-श्रवणादि कार्य करता है वह परमात्मा में संप्रतिष्ठित कहा जाता है। "वह पर (अक्षर आत्मा) में संप्रतिष्ठित होता है[१]।"

"वस्तुतः जल, वायु, अग्नि इत्यादि सब वस्तुएँ अपने सूक्ष्म भूतों (तन्मात्राओं) के साथ परमात्मा में संप्रतिष्ठित कही जाती हैं और वह, जो परमात्मा को जानता है, सर्वज्ञ हो जाता है[२]।"

१. प्रश्न० ४. ९ ; २. प्रश्न० ४. ११।

पाँचवें अध्याय में, दूसरा अन्वेषक, शिबि का पुत्र सत्यकाम प्रश्न करता है, "जो पुरुष प्राणान्त होने तक 'ओ३म्' अक्षर की उपासना करता है उसे कौन सा लोक प्राप्त होता है?" ऋषि उत्तर देता है कि जो व्यक्ति 'ओ३म्' अक्षर की प्रथम मात्रा की उपासना करता है वह इस लोक को पुनः लौट आता है। यदि वह दूसरी मात्रा अर्थात् 'उ' का चिन्तन करता है, वह स्वर्गलोक को जाता है। यदि वह तीन मात्राओं से युक्त 'ओ३म्' अक्षर की सहायता से परमपुरुष की उपासना करता है तो वह दीप्तिमान् सूर्य (लोक) को पहुँचता है। विद्वान् पुरुष, इस लोक को ऋग्वेद के मन्त्रों से, स्वर्गलोक को यजुर्वेद के मन्त्रों से और सामवेद के मन्त्रों से उस लोक को प्राप्त करता है जिसे विद्वान् (प्रज्ञ) जानते हैं। ओ३म् अक्षर की सहायता से वह सचमुच उसे प्राप्त करता है जो शान्त, अजर, अमृत, अभय और पर है।

छठे और अन्तिम अध्याय में, भरद्वाज का पुत्र सुकेशा प्रश्न करता है, "षोडश कलायुक्त वह पुरुष कहाँ है?" ऋषि उत्तर देता है, "वह पुरुष मनुष्य के शरीर में ही रहता है, जिसमें कि ये सोलह अंग उत्पन्न होते हैं।" ये सोलह अंग (कलायें) क्या हैं? यह स्पष्ट नहीं किया गया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुरुष को परमात्मा से अभिन्न बतलाया गया है, क्योंकि यह कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु उसी मे उत्पन्न होती है और उसी में लीन होती है।

पिप्पलाद ऋषि कहता है कि परब्रह्म के विषय में जो इतना जानता है उसके लिए और इससे प्रकृष्ट और कुछ नहीं

है। तब आचार्य के उपदेश से सन्तुष्ट होकर अन्वेषक लौट आए।

सब बातों पर विचार करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्रश्नोपनिषद् अन्य उपनिषदों की उत्कृष्टता को नहीं पाता है और इसे अप्रधान उपनिषदों में ही रक्खा जा सकता है।

अध्याय १७

ऐतरेय उपनिषद्

"ओह ! कैसे मैं कभी भी उस रहस्यमय शब्द को प्रकट कर सकता हूँ ? ओह ! कैसे मैं कह सकता हूँ कि वह ऐसा नहीं है और वह वैसा है ? यदि मैं कहता हूँ वह मेरे भीतर है तो विश्व लज्जित होता है। यदि मैं कहता हूँ वह मेरे बाहर है तो यह असत्य है।"—कबीर

ऐतरेय उपनिषद् तीन अध्यायों का एक छोटा सा ग्रन्थ है, जिनमें से केवल अन्तिम अध्याय—जिसमें चार परिच्छेद हैं—उपनिषद्-साहित्य के लिए (कुछ) महत्त्व का है। प्रथम दो अध्याय उपनिषदों की अपेक्षा ब्राह्मणों से अधिक सम्बन्धित हैं। उनका विषय सृष्टि की रचना है और उनकी विचारशैली भी ब्राह्मणों की शैली के समान है। हाँ, केवल अन्तर इतना ही है कि प्रजापति के स्थान पर इसमें आत्मा की आदिम सत्ता की घोषणा की गई है।

केवल तीसरे अध्याय में ही उपनिषद् के अनुकूल विषय का प्रतिपादन मिलता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया गया है, "यह आत्मा कौन है जिसकी उपासना की जाती है ? क्या

यह वह है जिसके द्वारा रंग देखा जाता है, अथवा वह जिसके द्वारा ध्वनि सुनी जाती है, अथवा वह है जिसके द्वारा गन्ध सूँघी जाती है, अथवा वह जिसके द्वारा वाणी बोली जाती है या वह जिसके द्वारा स्वाद चखा जाता है ?" और बड़ी तत्परता और निश्चय के साथ इसका यह उत्तर दिया गया है कि इनमें से 'आत्मा' कही जानेवाली सत्ता कोई भी नहीं है। बल्कि ये सभी इन्द्रियजन्य कार्य तथा इन्द्र, प्रजापति और सभी देवता, सब जीव आत्मा के द्वारा प्रतिष्ठित, अनुशासित एवं अनुप्राणित हैं, जिसे (आत्मा को) ऐतरेय में प्रज्ञा और तैत्तिरीय में आनन्द कहा गया है।

———

अध्याय १८

श्वेताश्वतरोपनिषद्

"शुद्ध रहो, सत्य बोलो, भूलों को सुधारो।"

असली और प्रमुख महत्त्वपूर्ण उपनिषदों के संग्रह में, श्वेताश्वतर को निस्संदेह अन्त में रक्खा जा सकता है। इसकी रचना बहुत बाद की है जिसके कि चिह्न इसमें मिलते हैं और जो असन्दिग्ध हैं। इस उपनिषद् के विचारों और भाषा में भी शक्ति और नवीनता बहुत कम रह गयी है, साथ ही जटिल कल्पनाओं एवं कृत्रिमता के चिह्न स्पष्ट मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ उस काल की रचना है जब कि विचारों की सृजनात्मक मौलिकता समाप्तप्राय थी जो कि उपनिषद्-साहित्य की विशेषता थी।

पुस्तक के अन्त में, श्वेताश्वतर उपनिषद् को निश्चित रूप से एक विशेष नाम से सम्बद्ध किया गया है। यह कहा गया है कि विद्वान् श्वेताश्वतर ऋषि ने इसे एक पूजनीय ऋषिसंघ को सुनाया था और इस कथन की सत्यता पर संदेह करने का कोई कारण भी नहीं है। यह तैत्तिरीय अथवा कृष्ण यजुर्वेद का उपनिषद् है, ऐसा प्रसिद्ध है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर हमें बहुत बाद के समय के सूचक अनेक चिह्न श्वेताश्वतर में मिलते हैं। इस उपनिषद् की ब्रह्म-संबंधी धारणा—उपनिषद्-युग की प्रधान विचार-धारा—को पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करती हुई भी बादवाले भक्ति-आन्दोलन की ओर विशेष रूप से झुकी हुई है। श्वेताश्वतर में पर-ब्रह्मरूपी परम तत्त्व को प्रायः 'देव' नाम से अभिहित किया गया है, यद्यपि 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' शब्दों का उसमें सर्वथा अभाव नहीं है। इस परम तत्त्व (ब्रह्म) की ओर अनिश्चयबोधक तत् शब्द द्वारा संकेत करने का जो विशेष रूप से उपनिषदों का ढंग है, वह भी यहाँ यत्र-तत्र दिखता है। पर इसके साथ-साथ इसी परम तत्त्व को ऐसे नाम से अभिहित करने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट है जिस नाम को हम व्यक्ति-परक कह सकते हैं। इस प्रकार का नाम हमें इस उपनिषद् में 'रुद्र' मिलता है। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि रुद्र के उत्तरकालीन पर्यायवाची 'हर' शब्द के भी हमें इसमें दर्शन होते हैं।

"वह जो क्षर है 'प्रधान' है; अमृत और अक्षर 'हर' है[1]।" अन्य कई उपनिषदों के समान, श्वेताश्वतर भी, अस्तित्व के रहस्य के संबंध में प्रश्न उठाता हुआ, शुरू होता है। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह जिज्ञासा, विचार और जीवन के रहस्य के संबंध में नहीं है, वरन् यह है इस विषय में कि 'हम कहाँ से आये हैं' तथा 'जीवन का कारण क्या है।'

---

1. श्वेता० 1. 10।

यहाँ 'कारण' शब्द का प्रयोग हमें मिलता है जो बाद के काल में पारिभाषिक बन गया है। इस उपनिषद् की रचना कुछ बाद में हुई। इसका एक दूसरा चिह्न पहले अध्याय के दूसरे मंत्र में मिलता है जहाँ सत्ता के कारण के संबंध में की गई पूछताछ के सिलसिले में हमें अनेक उत्तर मिलते हैं जिनका प्रतिपादन उपनिषदों के उत्तरकाल में किया जाना प्रसिद्ध है। आगे चलकर इन उत्तरों को अस्वीकार कर दिया गया है।

"क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत अथवा पुरुष को कारण समझा जाय, इनका संयोग, कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह आत्मा पर आश्रित है। आत्मा भी ईश नहीं है क्योंकि वह सुख और दुःख का भोक्ता है[1]।" यह मंत्र विश्व के कारण के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों के अस्तित्व को सूचित करता है—यथा, काल, नियति, स्वभाव और यदृच्छा इत्यादि जो कि दूसरे उपनिषदों में नहीं मिलते हैं और जिनके लिए यह प्रसिद्ध है कि वे उत्तरकाल में प्रचलित रहे हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् इन विकल्पात्मक सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है और ब्रह्म अथवा आत्मा ही एकमात्र कारण है। उपनिषद् के इस सिद्धान्त को निश्चय के साथ स्वीकार करता है। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह उपनिषद् सृजन कार्य में ब्रह्म के साथ एक अन्य सत्ता को सम्बद्ध करता है। ब्रह्म विश्व की सृष्टि करता है,

---

1. १. २।

किन्तु माया[१] अथवा प्रधान[२] की सहायता से। ये शब्द और विचार नये हैं जो असली उपनिषदों में अनुपस्थित हैं अथवा असाधारण हैं और जो एक उत्तरकालीन युग की विशेषता हैं। ब्रह्म अथवा कर्ता को अनेक बार मायी[३]—मायावाला अथवा मायापति—कहा गया है। माया की व्याख्या प्रकृति, और मायी की महेश्वर कहकर की गई है।

"माया को प्रकृति और मायी को महेश्वर जानो।[४]"

एक अन्य स्थल पर प्रधान को ब्रह्म के साथ, रचना-कार्य में शामिल किया गया है।

"एक (मात्र) देव, जिसने अपने ही स्वभाव से, प्रधान से उत्पन्न तन्तुओं के द्वारा, मकड़ी के समान अपने को आवृत कर लिया है[५]।" यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि लेखक का प्रधान शब्द से क्या तात्पर्य है। दार्शनिक विचारों के उत्तरकाल में यह शब्द बहुत प्रसिद्ध है। यह एक पारिभाषिक शब्द बन गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा के जोड़ में—जो कि अमृत और अक्षर है—प्रधान को क्षर कहा गया है[६]।

यह एक बहुत ही सार्थक बात है कि 'मकड़ी द्वारा तन्तु बिनने' वाले जिस दृष्टान्त को मुण्डक उपनिषद् में, सृष्टि-क्रम के सिलसिले में, दिया गया है उसे ही श्वेताश्वतर ने ले लिया है। लेकिन इसमें 'प्रधान' जोड़ दिया है जिसका कि मुण्डक में कहीं जिक्र नहीं है। श्वेताश्वतर में इस 'तन्तु' को प्रधान से उत्पन्न कहा गया है। "तन्तुभिः प्रधानजैः" का यही अभिप्राय

---

१. ४.१; २. ६.१०; ३. ४.१०; ४. ४.१०; ५. ६.१०; ६. १.१०।

है। स्पष्ट ही यह बाद का विकास है। पर विकासक्रम के अन्तर को प्रकट करनेवाला कोई संकेत उपलब्ध नहीं। इसी प्रकार श्वेताश्वतर ने कठोपनिषद् के इस सुन्दर अंश को ग्रहण कर लिया है। "वह नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है, जो यद्यपि एक (अकेला) है पर अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करता है[१]।" किन्तु इसके तीसरे पाद के स्थान पर निम्न-लिखित परिवर्त्तन कर दिया गया है—'तत्कारणं सांख्ययोगा-धिगम्यम्'। यह स्पष्ट रूप से मूलमन्त्र के सौन्दर्य पर प्रभाव डालता है। किन्तु यहाँ पर हमें श्वेताश्वतर में नवीन विकास का संकेत उपलब्ध होता है। यह स्पष्ट है कि श्वेताश्वतर पर सांख्य और योगदर्शनों का अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ा है, जिनका इस पंक्ति में स्पष्ट उल्लेख है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में, सांख्य-दर्शन के प्रभाव के अन्य बहुत से चिह्न मिलते हैं। सांख्य-सिद्धान्त के 'प्रधान' का मिश्रण तो हम देख ही चुके हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् यद्यपि कुछ बाद का है फिर भी इसे असली उपनिषदों के साथ निस्सन्देह रखना चाहिए। इसकी प्रधान शिक्षायें अन्य उपनिषदों की शिक्षाओं के ही अनुरूप हैं। इसमें इस विश्व के पीछे परम सत्य की एकता और आध्यात्मिकता की घोषणा बहुत ही दृढ़तापूर्वक की गई है।

"रुद्र केवल एक है, जो सब लोकों को अपनी शक्तियों से नियमित करता है; विद्वान् किसी दूसरे को स्वीकार नहीं करते[२]।"

१. ६. १३ २. ३. २।

"जो, केवल एक होते हुए, काल और आत्मासहित उन निखिल कारणों को नियमित करता है[१] ।"

"जो स्वयं अवर्ण होता हुआ, निश्चित प्रयोजनयुक्त, अपनी शक्ति के योग द्वारा, अनेक वर्णों को उत्पन्न करता है; जिसमें सृष्टि के आदि में यह सब उत्पन्न होता है और अन्त में उसमें ही समा जाता है, वही देव हमें सद्बुद्धि से युक्त करें[२] ।"

इस एक परम सत्य को 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा गया है।

"जो देव अग्नि में है, जो जल में है, जो अखिल भुवन में प्रविष्ट हो जाता है, जो ओषधियों में है, जो वनस्पतियों में है—उस देव को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ[३] ।"

श्वेताश्वतर उपनिषद् उस ढंग का भी विशद वर्णन करता है, जिस ढंग से एक देव अखिल विश्व में निवास करता है।

"जिस प्रकार तिलों में तेल मिलता है, दही में घृत, स्रोतों में जल (मिलता) है, उसी प्रकार वह, जो सत्य और तप द्वारा आत्मा को खोजता है, उसे अपने में ही पाता है[४] ।"

श्वेताश्वतर की एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह उत्तरकालीन हिन्दू-विचारों की अधिकांश सूक्ष्म भावनाओं से पूर्णतया परिचित है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् का ऐसे विचारों से घनिष्ठ परिचय है और दूसरी ओर उनमें विरोध दूर करने का प्रयत्न भी किया गया है, जिनका (विचारों का) कि उत्तरकालीन मतों में—सांख्य और योगदर्शनों में—सूत्ररूप से वर्णन किया है। ऊपर

१. १.३; २. ४.१; ३. २.१७; ४. १.१५।

लिखे गये मंत्रों में[१] हमें इस बात के ऐसे चिह्न मिलते हैं जिनके विषय में संदेह नहीं किया जा सकता है।

श्वेताश्वतर में सांख्य का द्वैतवाद, यदि बिल्कुल प्रतिष्ठित नहीं हुआ है तो कम से कम दृष्टिगोचर तो होता ही है। ऋग्वेद के सर्व-प्रसिद्ध मन्त्र को—जिसमें जीवात्मा को परमात्मा के साथ बराबर का साझेदार बनाया गया है—श्वेताश्वतर ने ग्रहण कर लिया है।

"दो पक्षी, जो अभिन्नमित्र हैं, समान वृक्ष पर वास करते हैं। उनमें से एक मधुर फल को खाता है जब कि दूसरा विना खाता हुआ देखता रहता है[२]।"

इससे भी अधिक, जीवात्मा को अज कहा गया है।

"दो हैं, एक ज्ञ (ईश्वर), (और) दूसरा अज्ञ (जीव), दोनों ही अज हैं[३]।"

ईश्वर अथवा पुरुष के विषय में सांख्य का यह सिद्धान्त है कि वह केवल द्रष्टा है कर्ता नहीं, बीजरूप में श्वेताश्वतर उपनिषद् में उपलब्ध होता है।

सांख्यदर्शन के अनुसार इसमें भी ईश्वर को 'भोक्ता' कहा गया है।

अन्त में सांख्यदर्शन के प्रसिद्ध प्रवर्तक कपिल का भी इसमें उल्लेख है[४]। शंकर तथा अन्य भाष्यकारों ने 'कपिल' का अर्थ 'लालवर्ण' किया है। यह बड़ी खींचातानी और हठ-धर्मता है। ऊपर जिस मंत्र का हवाला दिया गया है उसमें

---

१. ६. १०। २. ऋ० वे० १. १६४. २१; श्वे० ४. ६।
३. १. ६। ४. ५. २।

स्पष्ट रूप से सांख्य-प्रवर्त्तक कपिल का ही उल्लेख है। उपनिषद् में अपने विरोधी दर्शन के प्रवर्त्तक के नाम-निर्देश को अस्वीकार करने की शंकर की प्रवृत्ति को हम समझ सकते हैं।

इसी तरह इस उपनिषद् में योग-दर्शन के प्रभाव के असन्दिग्ध चिह्न मिलते हैं। साथ ही योग शब्द तथा उससे व्युत्पन्न रूप भी श्वेताश्वतर उपनिषद् में निरन्तर अनेक बार मिलते हैं।

"जिस प्रकार एक व्यक्ति दीपक के द्वारा वस्तुओं को देखता है उसी प्रकार एक पुरुष योगाभ्यास करते समय अपने को देखता हुआ ब्रह्म को देखता है।"

"तप के द्वारा, योग के द्वारा और उस (ब्रह्म) में अपने को मिलाने से, अन्त में माया पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाती है[१]।"

ऐसा प्रतीत होता है कि केवल सामान्य अर्थवाले 'योग' का नहीं वरन् एक शास्त्र-विशेष 'योग' का भी विकास हो चुका था, जब कि श्वेताश्वतर की रचना हुई थी। और ऐसा कहा जाता है कि योग के अभ्यास द्वारा, उत्तरकाल में, विभिन्न अलौकिक शक्तियों का भी विकास किया गया था। श्वेताश्वतर उपनिषद् में हम इस प्रकार के विकास का आरम्भ पाते हैं। यहाँ दृढ़तापूर्वक यह कहा गया है कि लघुता, आरोग्यता, अलोलुपता, वर्णप्रसाद, स्वरसौष्ठव, एक शुभ्र गन्ध और मूत्र एवं पुरीष की अल्पता योग के प्रथम परिणाम हैं[२]।

यह भी कहा जाता है कि योग के अभ्यास में, कोहरे की

१. २. १५; २. १. १०; ३. २. १३।

छायामूर्त्तियाँ, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत्, स्फटिक और चन्द्रमा, ब्रह्म की अभिव्यक्ति की पूर्व सूचना के रूप में प्रकट होते हैं[१]।

श्वेताश्वतर में योग का अभ्यास करने के लिए आसन और स्थान के सम्बन्ध में भी विस्तारपूर्वक उपदेश दिए गए हैं।

"योग का अभ्यास स्वच्छ और समतल भूमि पर करना चाहिए। वह जगह ऐसी हो जहाँ पत्थर के टुकड़े न हों और न अग्नि और बालू हो। वह स्थान मनोनुकूल हो, शब्द-रहित हो, जलाश्रय से दूर हो, जहाँ नेत्रों को पीड़ा देनेवाली वस्तुएँ न हों, तथा जो गुफा के निकट और वायु से सुरक्षित हो[२]।"

जहाँ तक आसन (स्थिति) का सम्बन्ध है, यह आज्ञा की गई है कि योगाभ्यास करते समय शरीर को थोड़ा ऊँचा उठाकर उसके साथ वक्ष को, गर्दन और शिर को एक समरेखा में रखना चाहिए[३]।

ऐसे अंश यह स्पष्ट रूप से दिखलाते हैं कि सांख्य और योगदर्शनों ने इस काल में पर्याप्त प्रगति कर ली है। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि सांख्य और योग के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे लिखे जा चुके थे। वे तो निश्चय ही बाद के हैं। लेकिन यह संभव है कि जिन भिन्न दार्शनिक विचारधाराओं ने उन ग्रन्थों के प्रणयन की प्रेरणा दी थी वे विचारधाराएँ उस समय उत्पन्न हो चुकी थीं।

इस उपनिषद् की रचना बाद में हुई, इसकी एक और

---

१. २.११; २. २.१०; ३. २.८।

पहचान उसमें मिलती है। इसमें ईश्वर और तत्-संबंधी भावना को व्यक्त करने के लिए 'परम-सत्य' का प्रयोग हुआ है। ईश्वर के विषय में प्रसिद्ध भावना यह थी कि वह सर्वव्यापक और सबकी अन्तरात्मा है। यह भावना निस्सन्देह यहाँ भी मौजूद है। पर इस उपनिषद् में ईश्वर अधिक मूर्त्त हो गया है। उसके लिए प्रायः पुल्लिंग शब्दों का प्रयोग किया गया है। उसके लिए ब्रह्म और आत्मा शब्द बहुत ही कम प्रयुक्त हुए हैं। 'देव' शब्द का प्रयोग इसी चरम सत्य (Ultimate Reality) के लिए हुआ है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है परमात्मा के लिए 'रुद्र' और 'हर' शब्दों का प्रयोग। ये वे शब्द हैं जो दार्शनिक विचारधाराओं के विकास के उत्तरकाल में ईश्वर के लिए प्रचलित हुए थे। ये शब्द उन उपनिषदों में नहीं मिलते हैं जिन्हें हम असली मानते हैं। यह बात भी उल्लेखनीय है कि यह उपनिषद् ईश्वर के ज्ञान से ही सन्तुष्ट नहीं है, बल्कि वह उसकी भक्ति के लिए भी जोर देता है। उपनिषद्-काल में मोक्ष-प्राप्ति के लिए परमात्मा का ज्ञान पर्याप्त समझा गया है। उपनिषदों में बारम्बार यह घोषणा की गई है कि ब्रह्म को जान लेने पर पुरुष अमृतत्व को पाता है। पर श्वेताश्वतर 'ब्रह्मज्ञान' के अतिरिक्त 'भक्ति' की अपेक्षा भी प्रकट करता है।

"जो ब्रह्म को जानते हैं और उसके भक्त हैं वे पुनर्जन्म से मुक्त हैं। उसे जानकर, वे इस लोक का अतिक्रमण करते हैं[१]।"

यहाँ पर हम देखते हैं कि उसे जानने के साथ ही साथ,

१. १, ७।

उसका भक्त होना भी आवश्यक है। इसी प्रकार प्रसाद अथवा अनुकम्पा के सिद्धान्त के भी दर्शन हमें श्वेताश्वतर उपनिषद् में होते हैं। यहाँ 'विधाता का प्रसाद' (धातुः प्रसादः) ऐसे वाक्य-खण्ड प्रायः मिलते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह भी स्पष्ट कहा गया है कि हम भक्ति-आन्दोलन के द्वार पर ही हैं, जो कि उत्तर-बौद्ध-काल में पूर्ण रूप से विकसित हुआ था। वास्तव में, श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में केवल परमात्मा की भक्ति का ही निश्चित रूप से उल्लेख ही नहीं है वरन् उसमें गुरु की भक्ति का भी आदेश दिया गया है। यह एक ऐसी भावना है जो कि बाद के मध्यकालीन हिन्दूधर्म में अत्यधिक साधारण और अति प्रचलित थी।

अध्याय १६

उपनिषदों का मूल्याङ्कन

"अपनी प्रेम की आँखें खोलो और निहारो उसको जो इस विश्व में व्याप्त है।"—कबीर

अब तक बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक उपनिषदों की विवेचना की गई है। अब हम इस स्थिति में पहुँच गये हैं कि भारतवर्ष के धार्मिक विकास में उनके महत्त्वपूर्ण स्थान का मूल्याङ्कन कर सकें। यह तो यथार्थ रूप से कहा ही जा सकता है कि न केवल भारतीय धार्मिक साहित्य में, अपितु मानवता के धार्मिक क्षेत्र में उनका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन अद्भुत ग्रन्थों के रचयिताओं ने बड़े ही अड़ियल प्रश्नों को उठाने की हिम्मत की है और विश्व-सम्बन्धी बड़ी बारीक पहेलियों और चरम आधारभूत यथार्थताओं पर बहस करने का साहस किया है। साथ ही अपनी इस छानबीन से ऐसे परिणाम पर पहुँचे हैं जो कि प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के सत्यान्वेषियों के लिए स्थायी रूप से महत्त्वपूर्ण है और जिसकी उपादेयता अक्षुण्ण है।

विश्व की बनावट का, विशेषकर मानव-मस्तिष्क के अद्भुत

तथ्यों का, विश्लेषण करके, उपनिषद् इस तथ्यरूपी परिणाम पर पहुँचे हैं कि यथार्थतया एक ही वह सत्ता है, जो शाश्वत, सर्वव्यापी और सर्वान्तरात्मा है जिसे उन ग्रन्थों में आत्मा, जीवात्मा, परब्रह्म और अनन्त कहा गया है। विश्व की महदाश्चर्यकारिणी नानारूपात्मिका घटनावली के अन्तर्गर्भ में, उपनिषदों ने एक यथार्थ सत्ता को देख पाया है। "जीवों की अन्तरात्मा, सबका प्रेरक एक रूप को अनेक रूपों में प्रकट करनेवाला[१]।"

"एक ही रुद्र—अद्वितीय है, जो अपनी महिमा से विश्व को शासित करता है। सभी प्राणियों में वही व्याप्त है और अखिल विश्व की सृष्टि करके वही उसकी रक्षा करता है और समय आने पर अपने में लय कर लेता है[२]।"

मानव-मस्तिष्क इसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर एवं अधिक व्यापक सामञ्जस्य की उद्भावना कभी नहीं कर सका। "एक ही सत्ता है जो अग्नि और जल में है, जो समग्र विश्व में व्याप्त है[३]।"

यही एकमात्र शक्ति है जो सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों को संचालित और नियंत्रित करती है।

"उसी के भय से सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि दहन करती है तथा इन्द्र, वायु और मृत्यु क्रियाशील होते हैं[४]।"

सबमें व्याप्त यही सत्ता सबकी आत्मा है। सबमें अन्तर्निविष्ट यही सत्ता है। "वह श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है,

---

१. कठ० उ० (५. १२); २. श्वे० उ० (३. २); ३. श्वे० उ० २. १७ ; ४. कठ० २. ३. ३।

वाक् की भी वाक् है, प्राण का भी प्राण है, चक्षु का भी चक्षु है[१]।"

परन्तु जब हम उसे आत्मा की भी आत्मा के रूप में जान पाते हैं, तभी उसका यथार्थ ज्ञान होता है। "जो विद्वान् उसे अपनी आत्मा में निहित देखते हैं उन्हीं को शाश्वत शान्ति मिलती है, अन्य किसी को नहीं[२]।"

"जो आत्मा में सबको और सबमें आत्मा को ओत-प्रोत देखता है, अपने को, इसी कारण से, पृथक् नहीं मानता[३]।"

सभी पदार्थों में व्यापक रूप से वर्त्तमान ईश्वर-सम्बन्धी विचार को—जिसे कि आधुनिक दार्शनिक परिभाषा में 'अन्तरस्थ' (Immanental) सत्ता सिद्धान्त कहा गया है—उपनिषदों की विशेषता कहा जा सकता है। जिस तथ्य को पाश्चात्य दार्शनिकों ने अभी हाल में समझना शुरू किया है उसकी पूरी-पूरी जानकारी उपनिषदों के ऋषियों को थी, यह एक अद्भुत बात है।

इस चरम सत्य के—जिसे कि उपनिषद् 'आत्मा' कहते हैं—भौतिक प्रतिरूपों का वे बलपूर्वक खण्डन करते हैं।

"उसका रूप नेत्रेन्द्रिय का विषय नहीं है। उसे नेत्रों से कोई नहीं देख सकता है[४]।"

"उसकी प्राप्ति न तो चक्षु से, न वाणी से, न अन्य किसी भी इन्द्रिय से ही हो सकती है। वह न तो तपस्या से और न यज्ञानुष्ठानों द्वारा ही प्राप्य है[५]।"

---

१. केन० १. २ ; २. कठ० ५. १३ ; ३. ई० ६ ;
४. कठ० ६. ९ ; ५. मुण्डक० ३. १. ८ ।

"परमात्मा इन्द्रियों से परे है। मन भी उसे नहीं जान सकता। उसे जानने के प्रयत्न में मन-वाणी को असफल होकर लौटना पड़ा[१]।"

मन-वाणी से अगोचर वह 'अनन्त' है। "वहाँ न नेत्रों की गम्य है, न वाणी की, न मन की ही। हम उसे नहीं जानते। हम नहीं जानते कि उसके विषय में कैसे समझाया जाय[२]।" "हम जो कुछ जानते हैं अथवा जो नहीं जानते उस सबसे वह भिन्न है[३]।" उपनिषदों में आत्मा का वर्णन प्रायः निषेधात्मक रूप में हुआ है।

"वह न स्थूल है न सूक्ष्म, न ह्रस्व न दीर्घ, न रक्त न मृदु, न छाया न अन्धकार, न वायु न आकाश, निस्पृह, रसना-घ्राण-नेत्र-श्रोत्र-वागिन्द्रियरहित, वह अनाम, अरूप, मुखरहित, और अप्राण है। उसकी तुलना किसी भी पदार्थ से नहीं की जा सकती है[४]।"

कुछ उपनिषद् तो यथार्थ में बड़े जोरदार शब्दों में उद्घोषित करते हैं कि ब्रह्म की परिभाषा तो केवल निषेधात्मक ही हो सकती है जैसे कि 'न यह ऐसा है, न वैसा है[५]।'

अचिन्त्य ब्रह्म की परिभाषा ही यही हो सकती है। ब्रह्मरूप इस चरम सत्य के आनन्त्य का प्रभाव उपनिषदों पर बहुत गहरा पड़ा है। पर ब्रह्म की इसी विभूति को प्रकट करने के प्रयत्न में उपनिषद् आधुनिक अज्ञेयतावाद (Agnosticism) की सीमा पर पहुँच जाते हैं। पर यह ठीक-ठीक अज्ञेयतावाद

---

१. तैत्ति० उ० २. ४; २. केन० (१. ३); ३. केन० (१. ३); ४. ३. ८. ८ (?); ५. बृह० उ० (१. २. ४)।

नहीं है। यद्यपि परब्रह्म के सम्बन्ध में अज्ञेयता स्वीकार की गई है, परन्तु आधुनिक अज्ञेयतावाद के प्रति आसक्ति का बलपूर्वक खण्डन भी किया गया है।

"मैं यह नहीं मानता कि मैंने ईश्वर को भली भाँति जान लिया है। यह भी बात नहीं है कि मैं उसे नहीं जानता और न यही है कि मैं उसे जानता ही हूँ[१]।" ईश्वर-ज्ञान के सम्बन्ध में जो भी आवश्यक प्रश्न उठाये गये हैं, उपनिषदों में उनके सम्बन्ध में यही व्यापक धारणा है।

"जो यह सोचता है कि उसने ईश्वर को नहीं जाना है, उसने यथार्थतया उसे जान लिया है। इसके विपरीत जो यह मानता है कि उसने जान ही लिया है वह यथार्थ में उसे नहीं जानता है। जो सचमुच विद्वान् है उसकी धारणा यही है कि उसने ईश्वर को नहीं जाना है, परन्तु जो उतना विद्वान् नहीं है, वह यही सोचता है कि उसने ईश्वर को जान लिया है[२]।"

"यदि तुम सोचते हो कि मैंने ईश्वर को भली भाँति जान लिया है, तो निश्चय ही तुम्हें ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ है[३]।"

ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान के महत्त्वपूर्ण प्रश्न का यह बहुत ही उचित और गम्भीरतम दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण ईश्वर के ज्ञान की समुपलब्धि की दृढ़ निश्चयात्मकता प्रकट करता है; साथ ही ईश्वर की अनन्त विभूति के प्रति श्रद्धा एवं भय से

---

१. केन० २. २; २. केन० २. ३; ३. केन० (२. १)।

सम्मार्जित है। यहीं हमें आधुनिक अज्ञेयतावाद-सम्बन्धी साहित्य की अपेक्षा उपनिषदों का महत्त्व परिलक्षित होता है और हम उससे प्रभावित होते हैं। उपनिषद् ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा तो देते हैं, साथ ही ब्रह्म के अनन्त ऐश्वर्य और विभूति के आगे काँपते हैं।

ब्रह्म-ज्ञान-सम्बन्धी संभावना का उत्तर देते हुए उपनिषदों ने उस प्रक्रिया को विस्तार-पूर्वक बताया है जिसके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसके अन्तर्गत सबसे पहले यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि केवल विद्या या पाण्डित्य के बल पर ईश्वर को नहीं जान सकता। "आत्मसाक्षात्कार प्रवचन, मेधा, अथवा अधिक अध्ययन द्वारा नहीं होता[१]।"

इसके बाद यह निर्धारित किया गया है कि "जब तक हृदय शुद्ध नहीं हुआ है, इन्द्रियाँ संयमित और अनुशासित नहीं हुई हैं, तब तक केवल बौद्धिक क्रिया द्वारा ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता है[२]।"

इस उपर्युक्त निषेधात्मक प्रणाली के बाद विध्यात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि "सत्य, आत्म-संयम और पूर्ण-ज्ञान के आश्रय से 'ब्रह्म-ज्ञान' प्राप्त होता है[३]।"

ब्रह्म-प्राप्ति के साधन के रूप में 'तप' के ऊपर उपनिषद् के ऋषियों ने बड़ा बल दिया है।

"तप के द्वारा ब्रह्म को जानो[४]।"

---

१. मुण्डक० ३. २. ३; २. कठ० १. २. ३ (?); ३. मुण्डक० (३. १. ५); ४. तैत्ति० उ० (३. २)।

तप का तात्पर्य ठीक-ठीक क्या है, यह बहुत कुछ स्पष्ट नहीं है। पिछले काल में 'तप' का अभिप्राय है शारीरिक उत्पीड़न और वैराग्य, परन्तु उपनिषदों में तप का रुझान अधिकतर विचार की गम्भीरता और चित्त की एकाग्रता की ओर है। ब्रह्म-साक्षात्कार की अन्तिम और अत्यावश्यक शर्त निश्चित रूप से चित्त की शुद्धता मानी गई है। अन्य प्रकार की योग्यताएँ केवल उसी लक्ष्य के सामान्य साधन हैं। जिनका चित्त शुद्ध है केवल वही ब्रह्म-साक्षात्कार की आशा कर सकते हैं।

"जिनकी अन्तरात्मा पूर्णज्ञान द्वारा परिपूत है, वे उस पुनीत ब्रह्म की झलक ध्यानावस्था में प्राप्त करते हैं[१]।" इस स्थल पर उपनिषद् और इंजील में पूरा-पूरा साम्य है। ईसाई-धर्म के प्रवर्त्तक ईशु (मसीह) ने यह उद्घोषित किया कि, "धन्य हैं वे जिनका हृदय शुद्ध है क्योंकि वे ईश्वर का साक्षात्कार करेंगे। ईशु के कुछ शताब्दी पूर्व उपनिषद् के ऋषियों ने यही शिक्षा, अधिक जोरदार भाषा में, दी थी।

कठ और मुण्डकोपनिषद्, दोनों में ही हमें एक विचित्र अनुच्छेद मिलता है जो पहिले से ही ईसाइयों के चुनाव के सिद्धान्त को जानता हुआ प्रतीत होता है।

"जिस किसी को वह चुनता है, वह उसके द्वारा लभ्य है। आत्मा उसको अपने ही तनु के रूप में चुनता है[२]।" यहाँ पर ऐसा लगेगा कि ब्रह्म की प्राप्ति भक्त के परिश्रम के

१. मुण्डक० (३. १. ८); २. कठ० उ० १. २. २३।

गुणों पर आश्रित नहीं है, वरन् परमात्मा की स्वतंत्र कृपा है। वह उसे उसको प्रदान करता है जिस किसी को वह चुनता है। यहाँ पर हम प्रसाद अथवा दैवी कृपा के सिद्धान्त का जन्म देखते हैं जो कि भारतीय एवं ईसाई-अध्यात्मविद्या के भक्ति-सम्प्रदाय का सार है।

ब्रह्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-दर्शन उपनिषदों का यथार्थ में लक्ष्य नहीं है। यह उनके लक्ष्य का एक साधन है। यह घोषित किया गया है कि सभी आध्यात्मिक चेष्टाओं और अभ्यासों का अन्तिम विषय, अन्तिम लक्ष्य 'अमृतत्व' है। उपनिषद् बारम्बार यह घोषणा करते हैं कि ब्रह्म को जानकर, भक्त अमर हो जाता है।

"वे जो इसको जानते हैं, अमृत हो जाते हैं[१]।"

"उस एक सर्वव्यापक ईश्वर को जानकर लोग अमृत हो जाते हैं[२]।"

"वे अमृत हो जाते हैं जो उस ईश्वर को जानते हैं जिसे हृदय, आत्मा और मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है[३]।"

"धीर पुरुष, सब भूतों में ब्रह्म का अनुभव करके, इस लोक से जाकर, अमृत हो जाता है[४]।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपनिषदों के ऋषियों ने अमृतत्व की कामना की थी। अच्छा तो इस अमृतत्त्व का अभिप्राय क्या है? क्या यह केवल 'शारीरिक मृत्यु पर विजय' हो सकता है? कुछ ऐसे अनुच्छेद (अवश्य) हैं जिनसे इस प्रकार का निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

---

१. कठ० उ० २. ६. ६; २. श्वेता० उ० ३. ७; ३. श्वेता० उ० ४. १७; ४. केन० उ० २. ५।

"उसको जानकर व्यक्ति मृत्यु को पार कर जाता है[१] ।"

"उस (ध्रुव) को जानकर (भक्त) मृत्यु के मुख से बच जाता है[२] ।" किन्तु उपनिषद् के ऋषियों को इस प्रकार के अनुच्छेदों को शारीरिक मृत्यु को जीतने के दिखावटी अर्थ में लेना अभिमत न था।

इसके विपरीत अनेक असन्दिग्ध संकेत मिलते हैं। कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ यह कहा गया है कि इस जीवन में कोई भी अमृतत्व को पा सकता है।

"मृत्यु-पाशों को तोड़कर (इस) शरीर की मृत्यु के पहले ही वह शोक से मुक्त हो जाता है और स्वर्ग में आनन्द करता है[३] ।"

फिर कुछ अनुच्छेद निर्देश करते हैं कि अमृतत्व मृत्यु के बाद ही प्राप्त होता है। "इस लोक से जाकर वे अमृत हो जाते हैं[४] ।"

इस प्रकार यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि उपनिषदों के ऋषियों का 'अमृत होने' से क्या तात्पर्य था। उत्तरकालीन हिन्दूधर्म में आध्यात्मिक संस्कृति का लक्ष्य निश्चित रूप से, जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति समझा जाता था। पिछले जीवन के अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार, मृत्यु के पश्चात् किसी न किसी लोक में, आत्मा के पुनर्जन्म पर विश्वास किया जाता था। इस प्रकार जन्म-मरण का एक अनन्त चक्र

---

१. श्वेता० उ० ३. ८; २. कठ० उ० १. ३. १५; ३. कठ० उ० १. १. १८; ४. केन० उ० २. ५।

था जिससे भक्त मुक्त किया जायगा। उपनिषदों में हम इस सिद्धान्त की पूर्व सूचना पाते हैं। "वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से फिर वह जन्म नहीं लेता[१]।"

"जो यह समझता है कि केवल यही लोक है और इसके बाद (फिर कोई) दूसरा लोक नहीं है, वह बारम्बार मेरे वश में आता है[२]।"

किन्तु पुनर्जन्म में विश्वास और उससे मुक्ति की इच्छा, उपनिषदों में बिलकुल निश्चित नहीं बनी रही थी। अमृतत्व, शान्ति और आनन्द की एक अवस्था थी, जिसके लिए उपनिषदों के ऋषि कामना करते थे।

"पुरुष उस अमृत, विश्व के धारण करनेवाले शिवरूप ब्रह्म को जानकर परमपद को प्राप्त करता है[३]।"

जो ब्रह्म को जानते थे, उन्हीं का शाश्वत सुख था।

"(केवल) वे शाश्वत सुख पाते हैं और अन्य (कोई) नहीं[४]।"

"सचमुच वह ब्रह्म ही हो जाता है जो परम ब्रह्म को जानता है। उसके कुल में कोई भी अब्रह्मविद् जन्म नहीं लेता। वह शोक को तरता है, और पाप को तरता है। हृदयग्रन्थियों से मुक्त होकर वह अमर हो जाता है[५]।"

उपनिषदों में यह भाव ओतप्रोत हैं।

नित्य ब्रह्म को जानकर भक्त अपने आत्मानन्द को पाता

---

१. कठ० उ० १. ३. ८।   २. कठ० उ० १. २. ६।
३. श्वेता० ४. १४।   ४. कठ० उ० २. ५. १२।
५. मुण्ड० उ० ३. २. ९।

है। वह शोक और पाप से ऊपर उठ जाता है। वह हृदय-ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार उपनिषदों का अमृत—उसका जो भी तात्पर्य हो अथवा न हो—शोक, विपत्ति और पाप से दूर होना और आनन्दरूप ब्रह्म के सान्निध्य में शाश्वत शान्ति और सुख में रहना है।

संक्षेप में अत्यन्त दार्शनिक और उत्साहवर्धक उपनिषदों की इसी प्रकार की शिक्षा है। यहाँ हमें ज्ञान और भक्ति की, जो बहुत ही उत्कृष्ट और गम्भीर तत्त्व हैं, एक व्यवस्था मिलती है। हमें यह कहते हुए खेद होता है कि उपनिषदों का जितना ज्ञान विश्व के राष्ट्रों को होना अपेक्षित है, उतना उन्हें नहीं है। जब उपनिषदों का मर्म लोग समझेंगे तो निश्चय ही ये मानवता की बहुमूल्य वसीयत के समान परम श्लाघनीय माने जायँगे।

अध्याय २०

दार्शनिक मत

"मैं कौन हूँ ? मैं क्या हूँ ? एक शब्द, एक गति, एक रूप और शाश्वत मस्तिष्क (Eternal mind) का एक मूर्त्तरूप को प्राप्त विचार।"—कार्लाइल

इस स्थल पर दार्शनिक विचारधाराओं के संबंध में कुछ शब्द कह देना उपयुक्त होगा; क्योंकि भारतवर्ष में 'धर्म' में दर्शन का मूलस्रोत निहित है। 'धर्म' से ही उसे प्रेरणा मिली और 'धर्म' के ही उद्देश्यों की पूर्त्ति उसका ध्येय रहा। दर्शन का स्पष्ट रूप से स्वीकृत ध्येय वही था, जो धर्म का। यह ध्येय था मनुष्यमात्र के आत्यन्तिक दुःख को दूर करना। पिछले खेवे के धार्मिक सिद्धान्तों पर दार्शनिक मतों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

दार्शनिक मतों का उद्‌गम उपनिषदों के विचारों से हुआ, चाहे उनका वर्त्तमान रूप बहुत समय बाद स्थिर हुआ हो। उपनिषदों में किसी एक ही दार्शनिक सिद्धान्त का समन्वित रूप उपलब्ध नहीं है। उनमें आध्यात्मिक दृष्टिकोणों की झाँकी है, ऋषियों द्वारा की गई सत्य के अन्वेषण-संबंधी

अन्तःप्रेरणाएँ हैं। फिर भी आगे चलकर विकसित होनेवाले अनेक दर्शनों के स्रोत उनमें मौजूद हैं। सभी भारतीय दर्शनों ने अलग-अलग अपने को उपनिषदों के ही प्रामाण्य पर आधारित किया है। उपनिषदों के बाद का काल एक बड़ी ही तीव्र बौद्धिक क्रान्ति का युग था, चाहे यह क्रान्ति नितान्त मौलिक न रही हो। ऐसा लगता है कि विचारकों का एक बड़ा समुदाय, उपनिषदों में गर्भित विचार-धाराओं के अनुशीलन एवं उन्हें समन्वित रूप में व्यक्त करने में संलग्न था। बौद्धकाल में अनेक दार्शनिक मत प्रचलित थे, जो बिलकुल स्पष्ट न थे। ब्रह्मजालसुत्त में ऐसे ६२ मतों का उल्लेख है। इनके विषय में यह धारणा है कि बुद्ध ने इन सबका खंडन किया था। जैन-ग्रन्थों में तो इनसे भी अधिक संख्या तत्कालीन मतों की मिलती है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि बुद्ध के जन्म-काल में भारत में अनेक दार्शनिक मतों का विकास हो चुका था। इनमें से जो बहुत उच्चकोटि के थे वे बने रह गये और आगे चलकर न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इन दर्शनों का विशदीकरण इस समय अपेक्षित नहीं है। यहाँ तो उनकी संक्षिप्त भूमिका का प्रदर्शन, धर्म के विकास-क्षेत्र में उनका प्रभाव और संबंध का निर्देश ही पर्याप्त होगा। यह तो अभी कहा जा चुका है कि उनका उद्‌गम उपनिषदों में निहित अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रत्यक्षीकृत तथ्यों से हुआ। यह भी प्रतीत होता है कि उपनिषदों के युग की समाप्ति होते-होते कुछ मतों का स्वरूप निर्धारित हो चुका था और उनका

विशिष्ट नामकरण भी हो चुका था। यह तो हम देख ही चुके हैं कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में दो मतों का नाम लेकर उल्लेख हुआ है—सांख्य और योग।

उपर्युक्त समग्र सामग्री के अभाव में भी, उपनिषद्-काल से लेकर भिन्न-भिन्न दार्शनिक मतों के विकास का अध्ययन मनोरंजक होगा। परन्तु इस समय हम इस प्रकार का अनुशीलन नहीं कर सकते। उनके विकास का काल-निर्णय भी यहाँ संभव नहीं।

निस्संदेह सभी दर्शनों में वेदान्त-दर्शन बहुत महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान उपनिषदों में से, ईश्वर-जीव-संसार-संबंधी एक समन्वित सिद्धान्त ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न ही इस दर्शन का मूल है। यह तो स्वाभाविक था कि विचारक और उपनिषदों के प्रशंसक, उपनिषदों को मथकर किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त को निकालें। इस कार्य में उन्हें सफलता मिली—उपनिषदों के कुछ विशिष्ट विचारों को एक जगह सुग्रथित करके। 'ब्रह्मसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी प्रयत्न का परिणाम है। परम्परया इसे व्यास द्वारा रचित माना जाता है। इसी से इसे 'व्याससूत्र' भी कहा जाता है। पर 'व्यास' तो एक काल्पनिक नाम है। कम से कम यह ग्रन्थ उन व्यास की रचना नहीं हो सकती, जिन्हें प्राचीन परम्परा से वेदों का संकलनकर्त्ता तथा महाभारत का रचयिता माना जाता है। इसके रचयिता महर्षि बादरायण माने जाते हैं और यह बात अधिक संभव भी लगती है। जैसे इसके रचयिता के विषय में निश्चय नहीं है, वैसे ही इसके रचना-काल के विषय में भी

कोई निर्णय नहीं। तथापि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि इसकी रचना (ईसवी पूर्व) प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध और (ई० पू०) द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मध्य में किसी समय हुई होगी। इस ग्रन्थ की रचना सूत्रों के रूप में होने से यह तो सिद्ध ही हो जाता है कि जिस दार्शनिक सिद्धान्त को सूत्रबद्ध किया गया है वह कुछ पहले से मौजूद था। उपनिषदों के दर्शन को साररूप में प्रकट करना इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है। परन्तु, जैसा कि हमने अभी देखा है, उपनिषदों में कोई एक सुनिश्चित और समन्वित दार्शनिक विचारधारा नहीं है। उपनिषदों में तो विभिन्न एवं परस्पर असम्बद्ध विचारधाराएँ मिलती हैं, जिनका कि आगे चलकर भिन्न भिन्न दर्शनों के रूप में विकास हुआ। तथापि वेदान्त-दर्शन उपनिषदों की व्यापक और प्रधान विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकता है। फिर भी कठिनाई यह है कि ब्रह्म-सूत्र इतना संक्षिप्त और दुर्बोध है कि बिना किसी भाष्य के उसका समझना कठिन है। इस पर अनेक भाष्य लिखे भी गये हैं, जिनमें एक ही सूत्र के परस्पर विरोधी अर्थ मिलते हैं।

इन भाष्यों में, ८वीं शताब्दी (ई० पू०) के प्रसिद्ध दार्शनिक शंकर द्वारा लिखा गया भाष्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। शंकर ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य इस तरह लिखा है कि उससे एकान्ततः अद्वैत-सिद्धान्त का ही प्रतिपादन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अनिर्देश्य पारमार्थिक सत्ता एक ही है और नानात्व केवल भ्रान्ति है। लेखक की देदीप्यमान तार्किक

व्युत्पन्नता के कारण, भारत में शंकर के अद्वैतवाद के अनेक मतानुयायी हो गये। दार्शनिक मत के रूप में यह सिद्धान्त बड़ा ही अद्भुत है। परन्तु इस बात में सन्देह की बहुत गुंजाइश है कि यह ब्रह्मसूत्र के अन्तर्निहित गूढ़ विचारों को सही-सही प्रकट करता है। इस अद्वैत-सिद्धान्त-प्रतिपादक भाष्य के लेखक के अतिरिक्त इनके पहले के अन्य भाष्यकार हुए हैं, जिन्हें ब्रह्मसूत्र में द्वैत-सिद्धान्त तथा विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त दिखाई पड़ा था। भगवद्गीता—जो ब्रह्मसूत्र के ही सिद्धान्तों को प्रकट करने का दावा करती है—द्वैत-सिद्धान्त-परक है, कम से कम शंकर के अद्वैतवाद से तो बहुत दूर है। शंकर इस दार्शनिक सिद्धान्त के प्रवर्त्तक न थे। संभवतः इसके आदिप्रवर्त्तक आचार्य गौड़पाद थे, जो एक अद्भुत व्यक्ति और मौलिक विचारों के प्रवर्त्तक मालूम होते हैं। शंकर ने तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वे गोविन्द के गुरु थे; और गोविन्द शंकर के गुरु थे। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि अपने दर्शन के मूलप्रवर्त्तक के रूप में उन्होंने गौड़पाद को स्वीकार किया है, न कि बादरायण को। गौड़पाद ने ब्रह्मसूत्र पर कोई भाष्य नहीं लिखा, परन्तु माण्डूक्य उपनिषद् पर—जो सबसे छोटे उपनिषदों में से एक है—अपने भाष्य के रूप में निजी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। परन्तु शंकर ने गौड़-पाद के अद्वैत-दर्शन को ब्रह्मसूत्र से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है। एतदर्थ उन्होंने उस पर एक बृहत् भाष्य लिखा, जो आज भी इस दर्शन की विशद रूप से व्याख्या करनेवाला ग्रन्थ माना जाता है।

वेदान्तदर्शन के सभी भेदों में पारमार्थिक या चरम सत्ता एक ही मानी गई है। इसके साक्षात् विरोध में सांख्यदर्शन ने दो भिन्न चरम सत्ताएँ प्रतिपादित कीं—पुरुष और प्रकृति। पुरुष अनेक हैं। परन्तु उनका यथार्थ स्वरूप एवं कार्य स्पष्ट नहीं है। समग्र सृष्टि पुरुष और प्रकृति के अन्योन्य प्रभाव का परिणाम है। वेदान्त ने एक ही सत्ता का प्रतिपादन किया है और समग्र विश्व को या तो भ्रान्ति माना है या उसी चरम सत्ता का विवर्त्त, जो अपनी सत्ता के लिए उसी परम पुरुष पर निर्भर है। दूसरी ओर सांख्य ने यह घोषणा की कि पुरुष और प्रकृति ये दो एक दूसरे से निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ताएँ हैं और ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है। प्रकृति का स्वरूप ठीक-ठीक समझना भी आसान नहीं। यद्यपि उसे चरम और स्वतन्त्र सत्ता माना गया है, तथापि वह सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के समन्वय से निर्मित मानी गई है। प्रकृति इन तीन गुणों की साम्यावस्था है। सृष्टि के पहले केवल प्रकृति थी, जिसमें गुणों का तिरोधान था और वे लय की अवस्था में थे तथा अन्योन्य विरोधशीलता के कारण जिन्होंने एक साम्यावस्था उत्पन्न कर दी थी, वह अवस्था ही प्रकृति थी। जब इस साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न हुआ तब गुणों में वैषम्य के कारण अनेक पदार्थ उत्पन्न हुए। प्रलय के समय गुण फिर साम्यावस्था को प्राप्त हुए और सभी सत्ताएँ मूल-प्रकृति में समा गईं। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रकृति में क्यों और कैसे क्षोभ होता है ? यह सिद्धान्तरूप से मान लिया गया है कि प्रकृति का संबंध ही पुरुषों के साथ

ऐसा है और यह भी कि जड़प्रकृति का एक सहज स्वभाव ही ऐसा है कि उसके सभी विकास और परिवर्त्तन भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए अपेक्षित होते हैं, जिनके द्वारा अनुभव-जन्य सुखोपभोग एवं दुःखों की पीड़ा होती है और ये ही द्वन्द्वात्मक अनुभव उसके प्रयोजन हैं। प्रकृति का यही विलास अन्त में पुरुषों को 'कैवल्य' या मुक्ति की ओर ले जाता है।

सांख्य-सम्मत सृष्टिवाद की व्याख्या यहाँ अपेक्षित नहीं। यह सृष्टिवाद बहुत पेंचीदा भी है। दर्शनों की चर्चा करने का जो हमारा यहाँ प्रयोजन है उसके अनुसार सांख्यदर्शन का एक बहुत रोचक स्थल है ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता के संबंध में सभी सिद्धान्तों का निराकरण। ऐसी स्थिति में कट्टर हिन्दुओं ने भी सांख्यदर्शन का बहुत समादर किया है। कपिल को, जो परम्परया इस दर्शन के प्रवर्त्तक माने जाते हैं, विष्णु के अवतारों में भी सम्मिलित कर लिया गया है।

योगदर्शन की विचार-धारा में और सांख्य में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर केवल यह है कि योग ने ईश्वरवाद को स्वीकार किया है, सांख्य ने नहीं। इसी से योग को ईश्वरवादी या 'सेश्वर सांख्य' कहा गया है। इसकी विशेषता यह है कि यह मानसिक शान्ति की साधनप्रणाली को बताता है। इसमें चित्तवृत्तिनिरोध की एक विशद और सम्पूर्ण प्रक्रिया का प्रतिपादन है। व्यावहारिक साधन-पद्धति से समन्वित होने के कारण भारत में इसका बहुत व्यापक प्रभाव रहा। अनेक साधकों ने योग-मार्ग का अनुसरण किया और ऐसा माना

जाता है कि उन्हें शारीरिक और आध्यात्मिक अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हुईं। योगदर्शन के प्रवर्त्तक पतञ्जलि माने जाते हैं, जिनके जन्मकाल और व्यक्तित्व के विषय में भी बड़ा मत-भेद है। (ईसवी पूर्व) दूसरी शताब्दी के मध्य में पाणिनीय व्याकरण पर भाष्य लिखनेवाले ऋषि का नाम भी यही था। कुछ लोग इन्हीं वैयाकरण पतञ्जलि को ही योगदर्शन का प्रवर्त्तक मानते हैं। परन्तु कुछ लोगों को इसमें सन्देह है।

दार्शनिक विचारों में न्याय और वैशेषिक बहुत कुछ समान हैं। ये दोनों दर्शन अन्य दर्शनों की अपेक्षा बहुत यथार्थवादी हैं। वेदान्त ने तो एक ही चरम सत्ता मानी है, सांख्य और योग दो सत्ताएँ मानते हैं; परन्तु न्याय और वैशेषिक-दर्शनों ने, ईश्वर के अतिरिक्त कम से कम नौ पदार्थ माने हैं। ये पदार्थ हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।

न्याय और वैशेषिक-दर्शनों की आधारभूमिका अनुभव है। ये दोनों, चारों भूतों—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु—के पर-माणुओं की नित्यता स्वीकार करते हैं। वे काल और देश की यथार्थ सत्ता में भी विश्वास करते हैं। ये प्रतिव्यक्ति के सम्बन्ध से भिन्न, आत्मा की सत्ता भी प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान, सुख और दुःख, इच्छा आदि गुण आत्मा के माने गये हैं।

वैशेषिक-दर्शन ने, विशेष रूप से, सृष्टि-संबंधी परमाणुवाद का विकास किया; जब कि न्याय अपने प्रमाणवाद के लिए

प्रसिद्ध है। अन्य दर्शनों की भाँति इनका भी चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है। इनके अनुसार पदार्थों के यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। सांसारिक बंधन का कारण 'मिथ्या ज्ञान' है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने पर पुनर्जन्म नहीं होता और जीव बन्धनमुक्त हो जाता है।

गौतम न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध प्रवर्त्तक हैं। इनके विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है। ऐसा माना जाता है कि ये (ई० पू०) छठी शताब्दी में हुए। वैशेषिक-दर्शन, जिसके आदि आचार्य कणाद हैं, कुछ और पहले का कहा जाता है। परन्तु ये काल-निर्णय-संबंधी धारणाएँ सन्दिग्ध हैं।

षड्दर्शनों में अन्तिम मीमांसा या 'पूर्व-मीमांसा' है। यह नाम इसे उत्तर-मीमांसा—जिसे ही कभी-कभी वेदान्त भी कहते हैं—का विरोधवाचक होने से दिया गया है। दार्शनिक क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व नहीं। यह केवल व्यावहारिक रूप से एक व्याख्यात्मक प्रणाली है, जो वैदिक संहिताओं के संबंध में क्रमशः विकसित होनेवाले यज्ञ के विधानों की बारीकियों की उपपत्ति और उनके तात्पर्य को प्रदर्शित करती है। इस दर्शन का संबंध-विशेष वेदों से ही है। इसके अन्य सब विचार वेदों के प्रामाण्य की अपेक्षा गौण हैं। वेद अनादि हैं। इसी अनादित्व को सिद्ध करने के लिए, इस दर्शन ने ईश्वर-सत्ता को भी नहीं माना है। जीव-सत्ता तो इसे माननी ही पड़ी है, अन्यथा यज्ञों का सम्पादन करता ही कौन? अन्य दर्शनों के एवं हिन्दुओं की सनातन विचारधारा के समान ही मीमांसा-दर्शन मुक्ति को पुनर्जन्म की निवृत्ति मानता है। जब

कोई व्यक्ति भोग द्वारा, सदसत् कर्मों का क्षय कर देता है और कर्म से विरत होकर नये कर्मजन्य परिणामों की शृंखला विच्छिन्न कर देता है, तभी उसे मोक्ष मिलता है। यह मोक्ष एक शरीर के नाश के पश्चात् नये शरीर की अनुपलब्धि होने पर ही मिलता है। अन्य सभी दर्शनों के प्रतिकूल, मीमांसा प्रलय-सिद्धान्त को नहीं मानता; क्योंकि यह वेदों के अनादित्व के प्रतिकूल है। मीमांसा के अनुसार 'शब्द' ही ज्ञान का मुख्य प्रमाण है। जैन, बौद्ध, चार्वाक और वैशेषिक-दर्शनों के अतिरिक्त, अन्य सभी भारतीय दर्शन 'शब्द' को प्रमाण मानते हैं, पर मीमांसा में इसका विशेष महत्त्व है। निश्चय ही 'शब्द' से अभिप्राय प्रधान रूप से वेदों से ही है। इसी से सम्बद्ध ज्ञान का स्वतः प्रामाण्यवाद है। मीमांसा-दर्शन का दावा है कि किसी प्रकार के ज्ञान की प्रामाणिकता उसी में निहित है, उसके लिए अन्य बाह्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं। न्याय-दर्शन भी ज्ञान की स्वविषयाश्रित प्रामाणिकता पर हठ नहीं करता। न्याय के अनुसार ज्ञान तो ज्ञातृ-सापेक्ष होता है, अर्थात् विशेष अवस्थाओं में हममें ज्ञान उत्पन्न होता है। पर इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि इस ज्ञान की बाह्य संसार में यथार्थ सत्ता है। इसके विपरीत मीमांसा एकान्तिक रूप से यथार्थवादी स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अनुसार समग्र ज्ञान यथार्थ रूप से पदार्थनिष्ठ है।

यह साधारणतया माना जाता है कि मीमांसा के प्रवर्त्तक जैमिनि हैं। इनका जीवन-काल (ई० पू०) दूसरी शताब्दी माना जाता है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इनके पहले